प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामण्डी, आगरा।

द्वितीय वार
२१००
मूल्य २)

मुद्रक
कपूरचन्द जैन,
महावीर प्रेस,
किनारी बाजार, आगरा।

भूमिका

(ले० उपाध्याय, कविरत्न मुनि श्री अमरचन्दजी म० सिंही)

मानव-संस्कृति के निर्माण में, कथा-साहित्य का अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण महत्त्व रहा है। प्राचीनकाल से चली आने वाली ऐतिहासिक धर्म-कथाएँ, हजारों-लाखों वर्षों तक मानव-जीवन को पवित्र विचारों का प्रकाश अर्पण करती रही हैं। जब कभी मानव यात्री अपने को अन्धकार में पाता है, वह पथ-भ्रष्ट होने लगता है और जीवन का परम सत्य भूलने लगता है तो हमारा प्राचीन कथा-साहित्य अवश्य ही उसे सत्य का प्रकाश देता है, सन्मार्ग की सूचना देता है—और पथ-भ्रष्ट होने से बचा लेता है। जीवन की कठिन घड़ियों में हमें, हमारी धर्म-कथाओं ने अनेकानेक बार सँभाला है, ऊँचे और पवित्र विचार देकर सच्चे अर्थों में मानव बनाया है।

जैन धर्म का कथा-साहित्य बहुत विशाल एवं विस्तीर्ण है। विशाल एवं विस्तीर्ण ही नहीं, वह महान् भी है, साथ ही जीवन-स्पर्शी भी है। मानव-जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर हमारे यहाँ कथाएँ हैं और वे विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में सबल, सुदृढ़ एवं प्रगतिशील बनाती हैं। सत्य, शील, दया, परोपकार, क्षमा, त्याग आदि विभिन्न विषयों पर विभिन्न कथाएँ, मनुष्य के मनोविकारों को दूर करती हैं और सद्गुणों की सुगन्ध से जीवन के कौने-कौने को महका देती है।

अब मैं प्रकृत विषय की ओर चलूँ। मेरी आँखों के सामने श्रीयुत् रत्नकुमारजी 'रत्नेश' की एक कथा-पुस्तक है, बहुत सुन्दर एवं बहुत रुचिकर। मैं अपने इस नवीन उदीयमान साहित्यकार का, साहित्य-क्षेत्र में हृदय से स्वागत करता हूँ। मैंने पहली ही पुस्तक देखी है और इसने मुझे सहसा लेखक की ओर आकृष्ट कर लिया है।

जैन-कथा-महासिन्धु में, किसी भी प्रेमी पाठक को, एक दो नहीं, हजारों एक से एक बढ़कर सुन्दर एवं उज्ज्वल मोती मिल सकते हैं। ये मोती केवल पुरुष ही

नहीं, स्त्रियाँ भी हैं। जैन-धर्म गुण-पूजा का पक्षपाती है, व्यक्ति-पूजा का नहीं। गुणों की दृष्टि से जितना ही वह पुरुष-समाज का आदर करता है, उतना ही स्त्री-समाज का भी। यही कारण है कि जैन-कथा-साहित्य में नारी-जीवन को भी बहुत बड़ी आदर-भक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है। नारी-जीवन के अनुपम आदर्श, उच्च सिद्धान्त और उज्ज्वल चरित्र-चित्रण हमें स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं।

लेखक ने इसी महनीय नारी-जगत में से सोलह कुमारियों के चरित्र, अपनी पुस्तक में अङ्कित किये हैं। आज से नहीं, हजारों वर्षों से, सोलह सती के रूप में सोलह देवियाँ, नारी-समाज का पथ-प्रदर्शन करती आ रही हैं। सोलह सती के भजन बने हैं, स्तोत्र रचे गये हैं, विस्तृत चरित्र लिपि बद्ध किये गये हैं। हजारों साधु और गृहस्थ, नियमित रूप से प्रति दिन सोलह सती का प्रातःकाल स्मरण करते हैं और अपने जीवन में पवित्र संकल्पों की सुगन्ध भरते हैं। लेखक, इन्हीं सोलह सतियों के जीवन की झाँकी, अपनी पुस्तक में

दिखाता है और दिखाता है बड़े ही सुन्दर एवं चमत्कारी रूप में।

प्रस्तुत पुस्तक नारी-जीवन के सम्बन्ध में बड़े ही उच्च आदर्श उपस्थित करती है। नारी-जीवन के सम्बन्ध में ही नहीं, मानव-जीवन की नैतिकता को ऊँचा उठाने के लिये भी, जनता के समक्ष उपयोगी सामग्री उपस्थित करती है। ब्राह्मी, चन्दनबाला आदि सतियों की कुछ जीवन झाँकियाँ तो बहुत सुन्दर उतरी हैं। कहीं-कहीं तो भाषा और भाव के सौन्दर्य में होड़-सी लग गई है। भाषा भाव से बढ़ जाना चाहती है तो भाव भाषा से। कुछ स्थलों में भावाभिव्यक्ति अत्यन्त प्रशंसनीय है। कथागत पात्रों के मनोभावों का विश्लेषण भी बड़ा ही सुन्दर एवं रुचिकर हुआ है। पढ़ते समय पाठक की उत्कंठा बनी रहती है; और कथा का यही सबसे प्रधान गुण है। नई भाषा और नई भावना में लिखे गये ये चरित्र, वर्तमान मानव जीवन को श्रेष्ठतर बनाने में अधिक उपयोगी प्रमाणित होंगे।

पुस्तक के कुछ पृष्ठ, सम्भव है पुरानी शैली के पाठकों को सन्तुष्ट न कर सकें। क्योंकि कुछ स्थल ऐसे

भी है, यहाँ लेखक पुरानी लीक से इधर-उधर होता हुआ नजर आता है। आज के प्रगतिशील युग में यह सम्भव भी है। यदि पाठक, शब्दों की बहुत सूक्ष्मता में न उतर कर लेखक के भावुक हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न करेंगे तो उनका बहुत-कुछ समाधान हो भी जायगा। मैं आशा करता हूँ, इधर-उधर के विकल्पों में न उलझ कर, सहृदय जनता, इस सुन्दर पुस्तक को हृदय से अपनायेगी और लेखक की भावनाओं का यथोचित आदर करेगी।

सदर बाजार, दिल्ली
ता २७ सितम्बर १९४८
गांधी जयन्ती सप्ताह

मुनि अमर

द्वितीय संस्करण के बारे में

सोलह सती (आठ कहानियाँ) का प्रथम संस्करण जब निकला तो वह केवल एक मास में ही समाप्त हो गया। मुझे ऐसी आशा नहीं थी, पर अब तो यह मानना ही पड़ा कि समाज में आज ऐसी पुस्तकों की माँग अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। यह बड़ी खुशी की बात है और प्रगतिजनक भी।

जब से प्रथम संस्करण समाप्त हुआ तब से ही प्रेमी मित्रों का इस द्वितीय संस्करण के लिये आग्रह बना हुआ था। परन्तु कई एक अनिवार्य कारणों से इस कार्य में विलम्ब ही होता गया। फिर भी देर-अबेर पाठकों के हाथों में यह पुस्तक पहुँच रही है इसका मुझे सन्तोष है। कई कारणों से मुझे विश्वास है कि यह उन्हें बहुत रुचेगी।

प्रथम संस्करण में केवल आठ ही कहानियाँ थीं जो कि किसी खास मकसद से दी गई थीं। मुझे ऐसा विश्वास था कि हमारे धार्मिक परीक्षा बोर्ड इसे अपना लेंगे और अपने-

अपने पाठ्यक्रम में स्थान दे देंगे। परन्तु मेरा यह विश्वास अधूरा ही रहा। फलस्वरूप इस द्वितीय सस्करण में एक साथ सोलह ही कहानियाँ दे दी गई हैं। इससे पुस्तक का आकार दुगुना हो गया है। शेप आठ कहानियाँ तो नई हैं ही, पर भाषा की दृष्टि से प्रथम सस्करण की आठ कहानियों में भी कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर दिया गया है। नई कहानियों में कहीं-कहीं अनावश्यक प्रसगों में काट छाँट भी की गई है। परन्तु उनसे शास्त्रीय बाधा खड़ी होती हो, ऐसा नहीं होने दिया है। ऐसे प्रसगों में सुलसा का पुत्र-प्रसंग विशेष ध्यान देने योग्य है। अधिकाँश जैन कथा-वार्ताओं में सुलसा के एक साथ ३२ पुत्रों का होना बताया गया है। जो कि मन को जॅचता नहीं है। देव के खुश होने पर भी सुलसा जैसी धर्मपरायण स्त्री ३२ पुत्रों की याचना करे, औचित्यपूर्ण नहीं है। इससे तो उसका सतीत्व धुँधला हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक गुजराती कथाकार ने सुलसा के ३२ लक्षणों वाला एक ही पुत्र का होना लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करने से कथा की वास्तविकता ऊपर उठ गई है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रों में कहीं भी सुलसा के ३२ पुत्र होने का उल्लेख नहीं है। अत मैंने भी इस कथा में उक्त गुजराती कथाकार का अनुसरण करते हुए सुलसा के ३२ लक्षणों वाले एक पुत्र का होना ही लिखा है। इससे कथा का 'हार्द' हृदय को छूने वाला बन गया है। अन्य कथाओं में ऐसी कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं की गई है।

अन्त में मैं अपने सभी मित्रों का और उन लेखक बन्धुओं का जिनकी कृतियों से मुझे इसमें सहायता मिली है, आभार मानते हुये श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा के मन्त्री श्री रतनलाल जी जैन मीतल को भी नहीं भूल सकता हूँ, जिन्होंने कि इसके प्रकाशन में खूब रस लिया है।

१ जनवरी १९५१
जैन प्रकाश कार्यालय,
पायधुनी, बम्बई ३

रत्नकुमार जैन 'रत्नेश'
धर्मशास्त्री, साहित्यरत्न,

सूची

भूमिका ३
द्वितीय संस्करण के बारे में ९
१-२—ब्राह्मी और सुन्दरी १७
३—चन्दनबाला २७
४—राजीमती ५०
५—सुभद्रा ६५
६—पुष्पचूला ७५
७—शिवा ८५
८—पद्मावती ९०
९—दमयन्ती १०१
१०—मृगावती ११८
११—सुलसा १३१
१२—कुन्ती १४२
१३—प्रभावती १४७
१४—कौशल्या १५०
१५—सीता १५६
१६—द्रौपदी १७०

सोलह सती

ब्राह्मी चन्दन बालिका भगवती
राजीमती द्रोपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा
सीता सुभद्रा शिवा ।।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता
चूला-प्रभावत्यपि।
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन मुखे
कुर्वन्तु वो मंगलम् ।।

ब्राह्मी और सुन्दरी

भगवान् आदिनाथ ने सृष्टि की नवीन व्यवस्था कर दुनियाँ को सर्व प्रथम ज्ञान दिया था।* इसीलिये भगवान् को ब्रह्मा भी कहा जाता है।

ब्राह्मी और सुन्दरी भगवान् की सर्वगुण सम्पन्न दो पुत्रियाँ थीं। प्रखर प्रतिभा सम्पन्न ब्राह्मी ६४ कलाओं में निपुण थी।

---

* जैन परम्परानुसार भगवान् आदिनाथ अवसर्पिणी काल के तीसरे विभाग के अन्तिम समय में हुए थे। उस समय अकर्म भूमि थी। इन्होंने ही सर्व प्रथम असि-मसि और कृषि के विधान बता कर अकर्म-भूमि को कर्म भूमि के रूप में परिवर्तित किया था। इन्होंने ही लौकिक शास्त्र और लोक व्यवहार की शिक्षा दी थी और उस धर्म की स्थापना की थी जिसका मूल अहिंसा है। इसीलिये इन्हें आदि-ब्रह्मा भी कहा गया है। जैसा कि लिखा है—

पुरणामहत्थादी लोगिमकप्पं च लोगववहारो।
धम्मो वि एयस्सओ पिविधम्मिओ आदियमेव ॥८०१॥

वि ता

भगवान् आदिनाथ ने सर्व प्रथम स्त्रियों की ६४ कलाओं का ज्ञान अपनी कन्या ब्राह्मी को ही दिया और फिर ब्राह्मी ने दुनियाँ को। जिसे आज हम ब्राह्मी लिपि कहते हैं, वह आदिनाथ की पुत्री ब्राह्मी की ही देन कही जाती है।

सुन्दरी अपने नामानुकूल परम सुन्दरी, थी। मगर दोनों ही बहिनों ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये अपना समस्त जीवन लोक का कल्याण करने में ही व्यतीत किया था। अत सर्व प्रथम सती नाम को सार्थक करने वाली यह युगल जोड़ी आज भी धार्मिक जगत् की आराध्य देवियाँ बनी हुई हैं।

(१)

केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् आदिनाथ घूम २ कर धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। विचरते- विचरते वे एक दिन अयोध्या नगरी में भी पधारे। अयोध्या भगवान् आदि-नाथ की राजधानी थी, जहाँ अब उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राज्य कर रहे थे। भरत अपने परिवार सहित प्रभु को वन्दन करने गये। प्रभु अब भरत के ही पिता नहीं, दुनिया के पिता बन चुके थे +। अत उन्होंने ससार की असारता बता कर सबको एक समान उपदेश दिया। प्रभु का उपदेश सुन ब्राह्मी दीक्षा लेने को तत्पर हो गई। उसने प्रभु की आज्ञा के अनुसार अपने

+ 'जगपियामहो भवयं, नंदी सूत्र प्रथम गाथा।

भाई भरत से दीक्षा की अनुमति मांगी। भरत ने कहा 'ब्राह्मी ! तुम्हारा जीवन तो वैसे ही संयमी मनुष्यों के समान है, फिर दीक्षा धारण कर क्या करोगी ? संयम का मार्ग बड़ा टेढ़ा है, वहाँ पग २ पर कांटे हैं; उस पर चलना तुम्हारी जैसी राज-कुमारी के लिये तो और भी कठिन है।

मगर निर्मल हृदय जिस पथ को एक बार ग्रहण कर लेता है, फिर चाहे उस पथ पर पहाड़ ही क्यों न टूट पड़ें वह हृदय कभी निराश नहीं होता। अन्त में ब्राह्मी ने भरत की स्वीकृति प्राप्त की और दीक्षा ग्रहण कर वह आत्म-ध्यान में लीन हो गई।

(२)

सुन्दरी के दिन अब बड़ी कठिनता से कटने लगे। ब्राह्मी के अभाव में उसे अपना राजमहल सुनसान दिखाई देने लगा। दो दिल जो प्रारम्भ से ही एक साथ एक उद्देश्य पर मिल जुलकर चले हों वे एक दूसरे का वियोग कैसे सहन कर सकते हैं ! सुन्दरी ने भी कुछ दिन ठहर कर अपने भाई भरत से दीक्षा की अनुमति मांगी। लेकिन सुन्दरी को दीक्षा की स्वीकृति नहीं मिली।

कुछ दिनों बाद ही भरत छह खंड पृथ्वी को जीतने निकले। सुन्दरी दीक्षा ग्रहण न कर सकी पर राजमहलों में रहते हुए भी उसने अपना जीवन साध्वी जैसा बना लिया। उसने

सोचा—मेरे भाई, अगर मुझे दीक्षित होने से वचित रखते हैं तो मैं इस राजमहल को ही अपनी तपोभूमि क्यों न बना लूँ ?

सुन्दरी ने तप करना आरभ किया और कुछ ही दिनों में उसने अपने शरीर का रूप-लावण्य तप की आग मे भस्म कर दिया।

(३)

भरत विश्व-विजय कर अयोध्या लौटे, पर अभी उनके भाई बाहुबली ने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। भरत ने बहुत चाहा कि बाहुबली आधीनता स्वीकार कर लें और व्यर्थ का सैन्य सहार न करें, परन्तु बाहुबली कब मानने वाले थे ? कहीं एक म्यान में दो तलवार समा सकती हैं ? वह भरत से मोर्चा लेने के लिये सामने आ डटे। लोगों ने भी समझाया-बुझाया, लेकिन जब बाहुबली न मानें तो फिर दोनों को ही परस्पर लड़ने के लिये राजी किया गया।

भरत और बाहुबली आमने-सामने मैदान में आ डटे। दोनों में सर्व प्रथम दृष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों दल अपने २ नायक की तरफ दृष्टि जमाये देख रहे थे। भरत हारे और बाहुबली जीत गये। बाहुबली की सेना ने जय-जयनाद से आसमान गुंजा दिया। अब मुष्टि युद्ध की बारी थी। भरत बाहुबली से बड़े थे, अत. पहला वार भरत का रहा। भरत ने अपनी मुष्टि उठाई और बाहुबली के उन्नत मस्तक पर दे-

मारी। मुष्टि प्रहार से बाहुबली भूमि में धंसते हुए प्रतीत होने लगे। लेकिन तत्क्षण सँभल कर उन्होंने भरत पर अपना हाथ उठाया! बाहुबली भरत से अधिक बली थे। लोगों के हृदय अप्रत्याशित आशंका से कांप उठे। पर यह क्या? जैसे ही बाहुबली ने अपना हाथ ऊपर उठाया वैसे ही आकाश मार्ग से आती हुई यह ध्वनि उन्हें सुनाई पड़ी कि 'बाहुबली सावधान! राज्य के लिये अपने बड़े भाई के ऊपर प्रहार करना तुम्हें शोभा नहीं देता है।' यह सुनते ही जो बाहुबली राज्य मोह में फंस कर अपने चक्रवर्ती भाई भरत पर प्रहार करने चले थे देखते ही देखते वे अपनी उठी हुई भुजा से—अपनी कसी हुई मुष्टि से सिर के केश लुंचन कर जंगल में चले गये। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लेकिन बाहुबली सचमुच बाहुबली ही निकले। उन्होंने पीठ फेर कर भी पीछे नहीं देखा।

(४)

भरत चक्रवर्ती बस खुशी-खुशी अपने महलों में आये। सुन्दरी का सौन्दर्य फिर से उनकी आँखों में पुनर्जीवित हो उठा। कुंकुम का थाल ले रानियाँ आई और चक्रवर्ती भरत की आरतियाँ उतार कर चली गई। क्षण भर बाद सुन्दरी भी विजय टीका करने आई। सीधे-सादे सफेद वस्त्र परिधान किये हुए सुन्दरी की क्षीण काया देखकर भरत तिलमिला उठे। उन्होंने

अपने राजकर्मचारियों और रानियों को खूब फटकारा, जी भर कर बुरा-भला कहा। सुन्दरी ने अपने भाई के क्रोध को शान्त करते हुए कहा—'भाई! आप इन पर नाराज न हों। इसमे किसी का दोष नहीं है। मैंने ही जान-बूझ कर अपनी यह दशा की है।'

भरत ने आश्चर्य से पूछा—'क्यों?'

सुन्दरी ने कहा—'भाई! दीपक की क्षणिक ज्योति में पागल बन कर पतगे अपना जीवन बरबाद कर देते हैं। रूप और गध के लोभी मधुकर विकसित कमलों मे बन्द होकर सदैव के लिये विलीन हो जाते हैं। ऐसे रूप लावण्य से क्या लाभ, जो दूसरों को बरबाद कर स्वय भी बरबाद हो जाये!!'

बुद्धिमान के लिये इशारा ही काफी होता है। सुन्दरी ने अपने सक्षिप्त किन्तु रहस्य-पूर्ण प्रवचन से भरत की आँखें खोलनी चाही, पर भरत का मोहान्ध हृदय इसे न समझ सका।

उसने कहा—'सुन्दरी! इससे तुम्हारा मतलब!!'

सुन्दरी ने अपनी गभीर मुख-मुद्रा बनाते हुए कहा—मतलब! यह भी आप न समझे—भाई! नयनाभिराम के नशे में आत्माभिराम को मत विसारो। मोह का पर्दा उठाकर देखो तो दोनों का अन्तर स्पष्ट दीख पड़ेगा। अभी तो आपका मन-मधुकर कमल की गध लेने जा रहा है, न कि उसकी कोमल पखुड़ियों में बन्द होने। लेकिन परिणाम में···· ···

'सुन्दरी ! मैंने भूल की ! मैं सब समझ गया हूँ। कहो, अब तुम क्या चाहती हो ?' भरत ने बीच में ही उसकी बात को भग करते हुए कहा।

सुबह का भटका शाम तक भी अपने घर आ जाय तो भूला हुआ नहीं कहाता। सुन्दरी का मनकमल खिल उठा। उसने कहा—'भाई ! मैं आपसे कोई नई बात नहीं चाहनी चाहती हूँ मात्र यही कि आप मुझे दीक्षित होने की आज्ञा दे दें।'

मोहान्ध भरत का मोह अब उससे बहुत दूर जाकर खड़ा हो गया था। उसने सोचा—सुन्दरी अब उसके बाकी नहीं है। उसका वैराग्य बरसाती नदी की तरह प्रबल वेग धारण किये हुए है। बाँध बना कर उसे रोक रखना अनुचित है और असम्भव भी। अपनी गति में; बहना ही उसकी स्वच्छता है।

भरत ने सुन्दरी को अपनी आज्ञा प्रदान की और चिर अभिलषित वस्तु को पाकर सुन्दरी मन ही मन फूली नहीं समाई। संयोग से उसी दिन भगवान आदिनाथ पुनः अयोध्या में पधारे। सुन्दरी दीक्षित हुई और ब्राह्मी के साथ वह भी आत्म कल्याण में लीन हो गई।

(४)

बाहुबली ने ध्यानस्थ खड़े-खड़े महीनों व्यतीत कर दिये।

उनके गौरांग शरीर की ❀ध्यान-मुद्रा अत्यन्त भव्य थी। फिर भी वह सिद्धि-लाभ से तब तक वंचित ही रहे।

राजपाट छोड़ कर मुनि बन जाने से भी कठिन उसका निभाना है। बाहुबली ने ध्यानस्थ होकर भी आत्म-मल को न धोया। उन्होंने राज्य-सुख त्याग कर भी अहंकार नहीं त्यागा। मैं बड़ा भाई होकर छोटे भाइयों की वन्दना करूँ? यही आत्म-मैल अहंकार उनकी सिद्धि में पांव फैलाये खड़ा था। फिर कैवल्य हो तो कैसे?

भगवान आदिनाथ ने बाहुबली की यह स्थिति देख कर अपनी दोनों साध्वी पुत्रियों से कहा—'तुम जाओ और बाहुबली को सावधान करो। वह जगा हुआ भी आत्म-मद में सोया पड़ा है। उसे सचेत करो।'

प्रभु की आज्ञा पा ब्राह्मी और सुन्दरी अपने भाई को समझाने चलीं। जिस गिरि-कन्दरा में वह ध्यानस्थ खड़े थे, वहाँ आकर बोलीं—

भैया अन्तर नयन उघारो।
अहंकार के गज पर बैठे, जीवन-धन मत हारो।
भैया अन्तर नयन उघारो।

❀ श्रवण बेलगुल (मैसूर स्टेट) में आज भी बाहुबली स्वामी की विशाल ध्यानस्थ प्रतिमा अपनी अलौकिक झाँकी से देखने वालों को बरबस आकर्षित कर लेती है।

ऋषभदेव की आज्ञा से हम आई निकट तुम्हारे।
लोभ क्रोध संयम को मारा, फिर क्यों 'मान' से हारे?
'लघु बन्धव वंद् नहीं' यह अभिमान निवारो।
मैया अन्तर नयन उघारो।

बाहुबली के कानों में झंकार पड़ी। वे चौंक पड़े। सोचा—क्या मैं अहंकार रूपी हाथी पर बैठा हुआ हूँ? संसार त्याग देने पर भी मोह और मान का अस्तित्व? सुन्दरी ने फिर गाया—

मैया अन्तर नयन उघारो।
ब्राह्मी-सुन्दरी दोनों आई अब तो भूल सुधारो।
हय गय रथ पायक तज आये, फिर क्यों है अभिमान।
'लघु बंधव वंद् नहीं', रहे निरत शुभ ध्यान।
लता लिपट गई तन पर देखो, अब है ममता मारो।
मैया अन्तर नयन उघारो।

बाहुबली—कौन? मेरी बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरी मुझे प्रतिबोध देने आई? हाँ वे ठीक कह रही हैं, मैंने अब तक आत्मा को न पहचाना। आत्मा तो अनादि और अनन्त है। फिर कौन छोटा और कौन बड़ा? जिसने आत्मा को पहिचान लिया वही बड़ा है। मैं तो अहंकार के मद में बड़ा बन सबसे

लघु बन गया हूँ। अब प्रमाद क्यों ? चलूँ, अपने अहंकार का प्रायश्चित तो करलूँ ?

मन का काँटा ज्यों फिरा, छोड़ा निज अभिमान।
चरण उठाया नमन को, पाया केवल ज्ञान॥

बाहुबली ने ज्योंही अपना पाँव आगे बढ़ाया, उनकी आत्मा एक विचित्र प्रकाश से जगमगा उठी। अब तक जो प्रकाश अहंकार की कृष्ण मेघमाला से आच्छादित था, अब वह उसके हटते ही चमक उठा। आसपास की वसुन्धरा हरी-भरी और पवन सुगन्धमय हो गई। देवों ने पुष्प वृष्टि कर जय-जयनाद से गगन गुञ्जायमान कर दिया।

सती ब्राह्मी और सुन्दरी प्रसन्नता पूर्वक अपने स्थान पर लौट आई और पूर्ववत् अपने आत्म ज्ञान में लीन हो गई।

चन्दनबाला

'मां! इस भयावने जंगल में हम कहाँ जा रहे हैं?' भय भरे स्वर में चन्दना ने अपनी माता से पूछा।

माता—'घबराने की कोई बात नहीं है, बेटी! मुसीबत सभी पर आती है। तुम्हारे स्वप्न का अर्धांश तो आज सत्य हो रहा है, पर वह दिन कब सफल होगा जब पूरा स्वप्न सत्य होगा! तुम्हारे पिता राज्य छोड़कर वन में चले गये हैं और सारी चम्पापुरी शत्रुओं से लूटी-खसोटी जा रही है। हम उनसे बचाकर दूर ले जाये जा रहे हैं, जिससे शत्रु हमारा अहित न कर सके। बेटी! आज से हमारे भाग्य-देवता रूठ गये हैं। अब न जाने हमारी किस्मत हमें क्या-क्या दिखाये? कौन जानता है? कुछ भी हो मनुष्य का कर्तव्य है मुसीबतों से लड़ना। जो मुसीबतों से घबराकर अपना धैर्य तज देते हैं, वे अपने जीवन की स्वर्णिम आभा को इन्द्रधनुषी रंगों की भाँति असमय में ही विलीन कर बैठते हैं। मेरी बच्ची!

लघु बन गया हूँ। अब प्रमाद क्यों ? चलूँ, अपने अहकार का प्रायश्चित तो करलूँ ?

मन का कॉटा ज्यों फिरा, छोड़ा निज अभिमान।
चरण उठाया नमन को, पाया केवल ज्ञान॥

बाहुबली ने ज्योंही अपना पॉव आगे बढ़ाया, उनकी आत्मा एक विचित्र प्रकाश से जगमगा उठी। अब तक जो प्रकाश अहकार की कृष्ण मेघमाला से आच्छादित था, अब वह उसके हटते ही चमक उठा। आसपास की वसुन्धरा हरी-भरी और पवन सुगन्धमय हो गई। देवों ने पुष्प वृष्टि कर जय-जयनाद से गगन गुञ्जायमान कर दिया।

सती ब्राह्मी और सुन्दरी प्रसन्नता पूर्वक अपने स्थान पर लौट आई और पूर्ववत् अपने आत्म ज्ञान मे लीन हो गई।

———

चन्दनबाला

'मां इस भयावने जंगल में हम कहाँ जा रहे हैं? भय त्रस्त स्वर में चन्दना ने अपनी माता से पूछा।

माता—'घबराने की कोई बात नहीं है, बेटी! मुसीबत सभी पर आती है। तुम्हारे स्वप्न का अर्धांश तो आज सत्य हो रहा है, पर वह दिन कब उदय होगा जब पूरा स्वप्न सत्य होगा! तुम्हारे पिता राज्य छोड़कर वन में चले गये हैं और सारी चम्पापुरी शत्रुओं से लूटी-खसोटी जा रही है। हम उनसे बचाकर दूर भागे जा रहे हैं, जिससे शत्रु हमारा अहित न कर सकें। बेटी! आज से हमारे भाग्य-देवता रूठ गये हैं। अब न जाने हमारी किस्मत हमें क्या-क्या दिखावे? कौन जानता है? कुछ भी हो मनुष्य का कर्तव्य है मुसीबतों से लड़ना। जो मुसीबतों से घबराकर अपना धैर्य तज देते हैं, वे अपने जीवन की स्वर्णिम आशा को इन्द्रधनुषी रंगों की भाँति असमय में ही विलीन कर बैठते हैं। मेरी बच्ची!

मनुष्य को अधर्म और अन्याय से सदा डरते रहना चाहिये। पर सत्य और न्याय मे डर किसका है? जो डर कर थकता है, वह मरता है, पर जो कमर कस कर आगे वढ जाता है वह वाजी मार लेता है। वह ईश्वर* का प्यारा वन दुनिया मे अपना नाम अमर कर जाता है।' इस प्रकार राजमाता धारिणी अपनी पुत्री को समझा रही थी और कुमारी चन्दना भी अपनी माता की गोदी मे सिर रखे अपलक नयनों से उसे देखती हुई उपदेश सुन रही थी कि सहसा रथ की गति मन्द हुई और वह धीरे-धीरे कुछ दूर चल कर रुक गया।

चारों तरफ सुनसान घना जगज था और निकट ही गिरी माला अपने उन्नत वक्षस्थल को फैलाये हुए खड़ी थी। ऐसी जगह रथ का रुकना किसी अप्रत्याशित आशका का सकेत था। और यह विचार कर धारिणी घवड़ा-सी गई।

शतानीक राजा का एक रथी, जो महाराजा दधिवाहन के वन में चले जाने पर उनकी रानी धारिणी और पुत्री चदना को अपने रथ में विठाकर किसी सुरक्षित स्थल पर ले जा रहा था, बीच में ही राजमाता धारिणी के रूप सौन्दर्य को निरख कर लड़खड़ा गया। कामवश उसका मन चचल हो उठा। जो कामवासना नगर के कोलाहल से दवी हुई थी, वह एकान्त

---

* सिद्ध, अजर, अमर, और ईश्वर आदि मुक्त आत्मा के नाम हैं।

पाकर भड़क उठी। कामी हृदय रथी ने अपना रथ रोका और राजमाता धारिणी से नीचे उतरने को कहा।

चारों तरफ एक नजर डालती हुई धारिणी अपनी पुत्री के साथ नीचे उतर कर एक पेड़ की शीतल छाया में बैठ गई। कुछ समय तक दोनों मौन रहे और जंगल की अव्यक्त ध्वनि को सुनते रहे, पर रथी का कामुक हृदय उछालें मार रहा था। वह धारिणी के पास आया और अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहने लगा—'रानी! अब तुम अकेली रह गई हो। बताओ, अब यहाँ तुम्हारा कौन है जो इस मुसीबत में तुम्हें सहारा दे?'

कामुक हृदय को पहिचानने में अधिक देर नहीं लगती। वह सहज ही अपनी भाव-भंगियों से बाहर झलक आता है। रानी धारिणी रथी की वासना-वृत्ति को समझ गई। फिर भी उसने रथी की बात का उत्तर देते हुए कहा—'हाँ भाई! जब है विपत्ति आती है तो सब एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। केवल भगवान का ही सहारा रहता है।

रथी ने दूसरा प्रश्न किया—'अब तुम कहाँ जाओगी रानी? अकेली इस तरह जाना तो तुम्हारी जैसी स्त्रियों के योग्य नहीं है।'

रानी—'भाई भाग्य के आगे किसका वश चलता है। वह जिधर भी ले जाये, जाना ही होगा।'

रथी—'इस तरह उदास मत हो रानी! तुम्हारी जैसी सुन्दरियों को निराश होने की जरूरत नहीं है। कुछ और

मुसीबतें झेलने के लिये तो दुनियाँ में अनेक भाग्यहीन स्त्रियाँ हैं। मगर तुम तो रानी बड़े भाग्यों वाली हो। तुम्हारा चांद-सा प्यारा मुखड़ा, गुलाब से लाल अधर और ये इतने सुन्दर कमल-नयन! फिर, मन को हर लेने वाला यह रूप। तो, कौन होगा ऐसा अभागी, जो उसे देखता हुआ तरस कर ही मर जायेगा। उपवन में फूल खिले और माली उसकी सुगन्ध से वंचित रह जाये। यह नहीं हो सकता। फिर, रानी! तुम पवती ही नहीं, बुद्धिमती भी हो। तो, अपने यौवन का दान कर मुझे कृतार्थ करो। सुमुखि! मैं वचन देता हूँ, मैं तुम्हारा सेवक बनकर रहूँगा।'

काम स्वभावत अन्धा होता है! वह जिस पर सवार हो जाता है उसको भी अन्धा बना डालता है। धारिणी के समक्ष जटिल समस्या उठ खड़ी हुई। पर वह घबराने वाली ललना नहीं थी। उसने कहा 'भाई—स्वार्थ के वशीभूत हो अपने धर्म को मत भूलो। मनुष्य के लिये पराई स्त्री को बुरी नज़र से देखना और उसके प्रति बुरी भावना जागृत करना अधर्म है। तुम जिस चमकीले रूप-रग पर मोहित हो उन्मत बन रहे हो, तनिक सोचो भी तो, वह क्या हैं? और उसका परिणाम कैसा है! भाई विषयान्ध होकर अपने अमूल्य जीवन को यू मत हारो। कुछ अपने को भी पहिचानों।'

रथी ने जब यह देखा कि रानी इस तरह सरलता से मेरी बात मानने वाली नहीं है तो उसने अपना रुख टेढ़ा करते हुए

कहा—'चुप रहो रानी! मैं यह थोथी बकवास तुम से सुनना नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ केवल तुम्हारी मादक मुस्कान का आस्वादन करना। कहो तैयार हो या नहीं ?'

रानी ने शान्त किन्तु तीव्र स्वर में कहा—'भाई! विषयान्ध पुरुष भले ही अपने विवेक को खो बैठे, पर पतिव्रता की कभी अपने धर्म को नहीं तज सकती। मैं अपने प्राणों का त्याग कर सकती हूँ, पर जीते जी सत्य की बलि न होने दूँगी।'

रथी—'तो इस तलवार से आलिंगन करना होगा ?'

रानी—कायर मनुष्य किसी के शरीर को नष्ट कर सकते हैं, पर उसके सत्य को खण्डित नहीं कर सकते। मैं तुम्हारी तलवार का स्वागत करूंगी पर तुम्हारा स्पर्श अन्तिम सांस तक न होने दूँगी।'

रानी की कर्कश बात को सुन कर रथी का क्रोध चमक आया। उसने अपनी आँखें लाल-लाल करते हुए कहा—'रानी, बस कर! अब अधिक अपने पतिव्रत धर्म की दुहाई मत दे। अगर ऐसी शीलवती थी तो अपने पति के साथ ही क्यों नहीं चली गई? देखता हूँ कैसे तू मेरा स्पर्श नहीं करती? अब तक तो मैं चुपचाप दूर खड़े-खड़े अभ्यर्थना कर रहा था, पर अब ये मेरे मजबूत हाथ तुझे बांधकर मुझे अपनी मनमानी करने देंगे।' यह कह कर ज्योंही रथी धारिणी की तरफ झपटा त्योंही उसने अपनी जिह्वा खींच अपने प्राणों को त्याग दिया।

'माँ यह क्या कह रही हो ?' चन्दना ने आश्चर्य से रथी पत्नी की तरफ देख कर कहा।

'बस, रहने दे अपनी चिकनी-चुपडी बातें। अब मैं अधिक सुनने वाली नहीं हूं। चल निकल मेरे घर से। तेरे रहते हुए मैं अपने घर का अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करूँगी, मैं मर जाऊँगी, पर तुझे देख कर इस घर में जीऊँगी नहीं।' रथी—पत्नी इस प्रकार जोर-जोर से चिल्लाने लगी, पर चन्दना शान्त हो एक तरफ खड़ी रही।

रथी आया। उसने अपनी पत्नी को बहुत समझाया। लेकिन वह तो चण्डी का अवतार बन बैठी थी। स्वर को अधिक तेज कर कहने लगी—'रहने दो अपनी इन लुभावनी बातों को। मैं तो समझती थी कि चम्पापुरी से बहुत कुछ माल असबाब लूट कर आवेंगे, पर आये भी तो ऐसा माल लेकर आये जो मेरे घर को ही लूट ले। मैं ऐसा कभी नहीं होने दूंगी। मैं मर जाऊँगी, पर जब तक आप इसे बेच कर २० लाख मोहरें मुझे लाकर नहीं देंगे मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी।'

चन्दना एक कोने में खड़ा अपने भाग्य पर विचार कर रही थी। उसने जब रथी को चुपचाप किसी उलझन में फँसा देखा तो वह उसके पास आई और बोली—'पिताजी! माताजी पर नाराज होने की कोई बात नहीं है। चलिये, मैं आपके

साथ बाजार चलती हूँ। देर मत कीजिये, माताजी मुझसे दुखित हो रही हैं, उन्हें जल्दी ही २ लाख मोहरें देकर सन्तुष्ट कीजिये।

रथी ने मन ही मन कहा—यह क्या कह रही हो बेटी! क्या तुम्हें बेच दूं! अपने घर में आई हुई लक्ष्मी को ठुकरा दूं! वह इसी असमंजस में विमूढ़ सा खड़ा रह गया।

चन्दना ने रथी-पत्नी को प्रणाम कर अपनी भूलों की माफी चाही और फिर पड़ौसियों से विदा ले पुनः रथी के सामने आकर बोली—पिताजी, आप क्या विचार कर रहे हैं? चलिये, अब अधिक विलम्ब करना ठीक नहीं है। मैं सबका आशीर्वाद लेकर आ गई हूँ।

(३)

बाजार के बीच में एक तरफ कोने में खड़ा हुआ रथी अपनी आँखों से आँसू बहाता हुआ अपने भाग्य को कोस रहा था और मन ही मन अपनी स्त्री को बुरा भला कह रहा था। परन्तु दूसरी तरफ खड़ी हुई चन्दना अपने भविष्य का विचार करती हुई अपने ग्राहक का इन्तजार कर रही थी। उसे दुःख था तो यही कि कब मैं बिकूँ और पिताजी कब मेरी कीमत लेकर माताजी की इच्छा पूरी करें।

बाजार से जो कोई निकलता चन्दना की तरफ एक नजर उठाकर अवश्य देखता। सोचता-यह देवबाला-सी कौन खड़ी

है ? चन्दना उसके अभिप्राय को समझ कर कहती—'मैं दासी हूँ और विकने के लिये आई हूँ।'

आगन्तुक पूछता—'तुम्हारी कीमत ?'

चन्दना कहती—'वीस लाख मोहरें।'

वस, कीमत सुनकर सब वापिस लौट जाते। चन्दना निराश हो फिर किसी ग्राहक का इन्तजार करती। सहसा इस बार एक वेश्या की सवारी उधर से गुजरी। ज्योंही उसकी नजर चन्दना पर गिरी, वह चन्दना के पास आई और लगी उसकी कीमत पूछने।

चन्दना ने कहा—'माताजी, मेरी कीमत वीस लाख मोहरें हैं।'

हीरे की कीमत करना जौहरी का काम है, पर रूप की परख करना वेश्या का काम है। चन्दना की सुन्दरता को देख कर उसने २० लाख मोहरें अधिक नहीं समझीं। उसने चन्दना से कहा—'तुम अपने अधिकारी को लेकर मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारी पूरी कीमत उन्हें चुकाने को तैयार हूँ।'

चन्दना को अब कोई ऐतराज नहीं था। पर वेश्या की तड़क भड़क को देखकर उसका हृदय कुछ सभ्रान्त हो उठा। उसने पूछा—'माताजी! आप मुझ से क्या काम करावेंगी ?'

वेश्या ने हँसते हुए कहा—'तू तो बड़ी भोली मालूम होती है। काम क्या, कुछ नहीं। केवल अपने इस शरीर को

सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारों से संवारना और नित्य नये-नये सुख भोगना ही तुम्हारा काम होगा। और कोई काम थोड़े ही तुम से लूँगी। तू तो रानी कहायेगी-रानी और तेरी सेवा में होंगी कई दासियाँ। जरा घर चलकर तो देख।

चन्दना ने कहा—'माताजी! जिस मार्ग से मैं दुनियाँ को उबारना चाहती हूँ, आप उसी मार्ग में मुझे डुबाकर मारना चाहती हैं। नहीं मुझ से यह कार्य नहीं होगा। आप मुझे मत खरीदिये। मैं आपके साथ चलने में मजबूर हूँ।

वेश्या ने चन्दना को सब्ज बाग दिखाते हुए कहा—'बेटी! जब कुदरत को ही यह पसन्द नहीं था कि वह तुम्हारे इस रूप को किसी एक व्यक्ति के हाथों में सौंप दे और उसी के हृदय मन्दिर में बन्द कर दे तो फिर तुम क्यों अवहेलना करती हो? क्यों नहीं मुक्त हस्त हो रूप-दान करती? वेश्या ने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा—'बेटी! जहाँ प्रतिबन्ध होता है वहाँ दुख होता है। मेरे यहाँ न प्रतिबन्ध है, न दुख है। जब चाहो ऐश करो-आराम करो। खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ। यही तो जिन्दगी है।'

चन्दना ने एक लम्बी साँस ली और बोली—'माताजी! बन्धनों में फँसाने वाले कभी सुख-चैन से नहीं रह सकते। आप सच कहती हैं, कभी हृदय प्रतिबन्ध रहित होता है और वह उसी में भूला हुआ सुख समझ बैठता है। लेकिन मनुष्य के

जीवन पर प्रतिवन्ध होना आवश्यक है। जहॉ प्रतिवन्ध होता है वहॉ जीवन, जीवन वन जाता है। उसकी सौरभ मलयानिल में मिल कर दिग्दिगन्त को सुरभित कर देती है।'

चन्दना ने निश्वास लेते हुए फिर कहा—'माताजी! मनुष्य पर ही क्या, आकाश मे विचरण करने वाले जानवरों पर भी प्रतिवन्ध है। अगर वे भी अपनी हद छोडकर उड़ जाते हैं तो दड पाते हैं। मनुष्य भी अपनी मर्यादा त्याग कर स्वच्छन्द बनता है तो दण्डित होता है। जिस जीवन को आप प्रतिबन्ध रहित और सुख सम्पन्न समझ रही हैं, तनिक उसके परिणाम को भी तो देखिये। शहद भरी तलवार को चाटने में सुख कहॉ तक ? परिणाम में जीभ ही तो कटेगी! अगर आपको कुछ भी आत्मा और परमात्मा का ख्याल है तो आप अपने इस धन्धे को छोड़ दीजिए।'

लोगों की भीड जमा हो गई थी। वेश्या ने क्रोध से उत्तेजित होकर कहा—'हूॅ, मुझे ही छलना चाहती है! नादान छोकरी! तुझसी कई लड़कियाँ मैं देख चुकी हूॅ! वोल चलती है या नहीं ? अगर न चलेगी तो मैं जवरदस्ती तुझे ले चलूॅगी।' यह कह कर उसने चन्दना का हाथ पकड कर अपनी तरफ खींचा। लोगों की भीड़ खडी-खड़ी यह तमाशा देख रही थी, पर किसी ने अपने मुँह से चूॅ तक न की। वेश्या ने फिर चन्दना से कहा—'जानती हो, तुम यहॉ विकने के लिये आई

हो। बीस लाख मोहरें देकर कोई भी तुम्हें खरीद सकता है और अपनी इच्छा के अनुसार काम ले सकता है। लोगों की भीड़ में से कुछ लोगों ने इसका समर्थन भी किया। लेकिन चन्दना घबराई नहीं। उसे अपने धर्म पर विश्वास था। वह यह बचपन से ही जानती थी कि चाहे हिमालय पर्वत ही टूट कर क्यों नहीं गिर जाये पर धर्म का पलड़ा पाप से दब नहीं सकता। वह तो ऊपर उठेगा और उठ कर ही रहेगा।

विचार-मग्न रथी को अब तक कुछ पता न चला पर जब कोलाहल कुछ बढ़ा तो उसका ध्यान टूटा और वह चन्दना की तरफ बढ़ा। इधर वेश्या ने अपने पक्ष को प्रबल देख कर जैसे ही अपना हाथ लम्बा कर चन्दना को खींचना चाहा वैसे ही कई बन्दरों ने उस पर हमला बोल दिया। देखते ही देखते बन्दरों ने उसके शरीर को नोंच डाला। वेश्या सहायता के लिये चिल्लाई, पर मौत के मुँह में हाथ कौन दे? सब लोग पहले ही भाग चुके थे। उसकी सहायता के लिये कोई नहीं आया। वह बुरी तरह से रोने लगी। लेकिन बन्दरों ने उसे छोड़ा नहीं। तब चन्दना से उसकी हालत देखी नहीं गई तो उसने दौड़कर बन्दरों को भगाया और वेश्या की रक्षा की। वेश्या मारे दर्द के रो रही थी। चन्दना सान्त्वना देती हुई उसके शरीर पर हाथ फेरने लगी।

जिस दर्द के मारे वेश्या रो रही थी, चन्दना का हाथ लगते ही उसकी वह सब वेदना दूर हो गई। वह कृतज्ञता भरी आँखों से चन्दना को देखती हुई बोली—'देवी! मेरी भूल हुई। मुझे माफ करो। मैंने आप को पहचाना नहीं। आप साधारण स्त्री नहीं, स्त्री के रूप में देवी हैं। मेरी अपवित्र आँखों ने तो आपको भी सदा की भाँति अपना जैसा ही समझना चाहा। लेकिन आपने मेरा वह पर्दा दूर कर दिया। उसके दूर होते ही मैंने आज सर्व प्रथम पवित्र नारी का रूप देखा है। जिस पर्दे की आड़ से मैं अपने जीवन-पथ को भूली हुई गोते खा रही थी, अब उसी पथ पर चलने को प्रेरित हो रही हूं। मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि अब मैं उसी पथ पर आगे बढ़ूँगी।

लोगों की भीड़ फिर से जमा हो गई थी। वेश्या ने अपनी बात समाप्त की और भीड़ को चीरती हुई अपने परिजनों के साथ घर चली गई।

(४)

भीड़ धीरे-धीरे बिखरने लगी। चन्दना फिर से अपने ग्राहक का इन्तजार करती हुई इधर उधर देखने लगी। रथी उदास मुख चन्दना के सामने आकर खड़ा हो गया। मानों कुछ कहने आया हो। लेकिन चन्दना ने अपनी दृष्टि घुमाते हुए बीच में ही रथी का ध्यान भग करते हुए कहा—'पिताजी! देखिये, वह कोई भले आदमी इस तरफ आ रहे हैं।'

भले आदमी थे वह सेठ। उन्होंने रथी को मुहरें देना स्वीकार कर चन्दना से घर चलने को कहा। देखने में सेठ भले थे और बोली से भी शान्त और गंभीर मालूम होते थे। मगर चन्दना ने उनसे पूछा—'पिताजी! आपके घर में मुझे काम क्या करना होगा?'

सेठजी ने कहा—'बेटी! मेरे घर में धर्म की आराधना करना ही तेरा काम होगा। मैं एक व्रतधारी श्रावक हूं। इस लिये मेरा काम भी धर्म की आराधना करना ही है। तू भी यथा-शक्ति धर्म की आराधना कर मेरी सहायता करना। और क्या काम है मेरे यहाँ? हाँ मेरे यहाँ रहते हुए तुझे किसी तरह की तकलीफ नहीं होगी। मैं यह विश्वास दिलाता हूं कि मेरे यहाँ तुझे शील और सत्य के नियम पालने में कोई बाधा नहीं आवेगी।

चन्दना सेठजी के घर चलने को तैयार हो गई। सेठजी आगे-आगे चले और चन्दना उनके पीछे-पीछे। रथी भी अपने भारी पाँवों को बढ़ाते हुए उनके पीछे हो लिया।

सेठजी ने घर आकर बीस लाख मोहरें रथी के सामने रखदीं। रथी लेने में संकोच करने लगा लेकिन चन्दना ने समझा-बुझाकर रथी को राजी कर लिया और मोहरों की थैलियाँ उसके साथ घर पहुँचा दी गईं।

चन्दना सेठजी के घर में आगई, पर अभी उसके दुखों का अन्त नहीं हुआ था। सेठजी का स्वभाव बड़ा निर्मल था।

जिस दर्द के मारे वेश्या रो रही थी, चन्दना का हाथ लगते ही उसकी वह सब वेदना दूर हो गई। वह कृतज्ञता भरी आँखों से चन्दना को देखती हुई बोली—'देवी! मेरी भूल हुई। मुझे माफ करो। मैंने आप को पहचाना नहीं। आप साधारण स्त्री नहीं, स्त्री के रूप में देवी हैं। मेरी अपवित्र आँखों ने तो आपको भी सदा की भाँति अपना जैसा ही समझना चाहा। लेकिन आपने मेरा वह पर्दा दूर कर दिया। उसके दूर होते ही मैंने आज सर्व प्रथम पवित्र नारी का रूप देखा है। जिस पर्दे की आड़ से मैं अपने जीवन-पथ को भूली हुई गोते खा रही थी, अब उसी पथ पर चलने को प्रेरित हो रही हूं। मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि अब मैं उसी पथ पर आगे बढ़ूँगी।

लोगों की भीड़ फिर से जमा हो गई थी। वेश्या ने अपनी बात समाप्त की और भीड़ को चीरती हुई अपने परिजनों के साथ घर चली गई।

(४)

भीड़ धीरे-धीरे बिखरने लगी। चन्दना फिर से अपने ग्राहक का इन्तजार करती हुई इधर उधर देखने लगी। रथी उदास मुख चन्दना के सामने आकर खड़ा हो गया। मानों कुछ कहने आया हो। लेकिन चन्दना ने अपनी दृष्टि घुमाते हुए बीच में ही रथी का ध्यान भग करते हुए कहा—'पिताजी! देखिये, वह कोई भले आदमी इस तरफ आ रहे हैं।'

पूरा विश्वास हो गया कि सेठजी का चन्दनबाला के साथ कोई अनुचित सम्बन्ध जरूर है। अब चन्दना उसे तीर-सी चुभने लगी।

एक दिन सेठजी किसी गाँव चले गये। मूला मन ही मन बड़ी खुश हुई। उसने अपने नौकरों को इधर उधर भेज कर चन्दना से कहा—'देखने में तो बड़ी भली लगती है, मगर भीतर से बड़ी काली है—तू।

चन्दना ने पूछा—'माताजी आप यह क्या कह रही हैं ?'

मूला—'मैंने अपनी आँखों से सब कुछ देख लिया है। अब मैं तेरी बातों में आने वाली नहीं। बता उस दिन सेठजी तेरे बालों पर हाथ क्यों फेर रहे थे ? क्या तू अपनी सुन्दरता से उन्हें अपना बनाना चाहती है।

चन्दना—'माताजी मैं आपकी पुत्री हूँ। आप पुत्री पर इस तरह का सन्देह क्यों करती हैं ?

मगर मूला कब मानने वाली थी। उसने उसके सुनहले केश निर्दयता पूर्वक कैंची से काट डाले—लेकिन चन्दना के मुँह पर एक बल भी न पड़ा। वह इस तरह भी खुश थी। और मूला जल उठी। उसने उसके शरीर पर से सभी कपड़े उतार एक मैले कपड़े की काछ लगा दी। हाथों में हथकड़ियाँ पहनाईं, पाँवों में बेड़ियाँ डालीं और एक पुराने तहखाने में बन्द कर दिया। और तब मूला को संतोष हुआ। उसने समझ

सेठजी अपने आंसुओं को पोछते हुए उठे और इधर-उधर घूमे, पर कोई वस्तु उन्हे खाने की दिखाई नहीं दी। केवल एक जगह सूप मे कुछ उडद के बाकले दिखाई पडे। सेठजी ने वे ही चन्दना के सामने लाकर रख दिये और लुहार को बुलाने के लिये बाहर चल दिये।

चन्दना वाकलों को लेकर देहली पर बैठ गई। लेकिन खाने से पहले वह किसी अतिथि का इन्तजार करती हुई बाहर की ओर देखने लगी।

(६)

तपस्या से कृश बना हुआ एक तपस्वी भिक्षा के लिये रोज लोगों के घरों मे प्रवेश करता था, लेकिन जब देने वाले को देखता तो वह कुछ लिये बिना ही वापिस लौट जाता था। लोगों को बडा आश्चर्य होता, लेकिन तपस्वी बिना कुछ कहे सुने ही चल देता था। इस तरह करते-करते आज उसे ५ महिनें और २५ दिन पूरे हो चुके थे। इस बीच तपस्वी ने अपने मुँह में अन्न का दाना भी नहीं डाला था।

तपस्वी और कोई नहीं, स्वय भगवान् महावीर ही थे। जीवन-साधना करते-करते एक दिन उन्होंने अपने प्राणों पर भी बाजी लगादी और यह निश्चय कर बैठे कि कोई अविवाहित राजकन्या, जो सदाचारिणी और निरपराध हो, फिर भी उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पाँवों में बेडियाँ पड़ी हुई

हो सिर के बाल मुँडे हुए हो शरीर पर कष्ट लगाई हुई हो तीन दिन से भूखी हो खाने के लिये उड़द के बाकले लेकर बैठी हो और किसी अतिथि का इन्तजार कर रही हो। न घर में हो न घर के बाहिर हो एक पाँव देहली के भीतर और एक पैर बाहिर हो मुँह प्रसन्न हो लेकिन आँखों में आँसू भी हों— ऐसी राजकन्या अगर मुझे अपने भोजन में से दान दे तो मैं आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा छः मास तक निराहार रहूँगा।

कितनी कठोर साधना थी साधक की? भगवान् घूमते घूमते सेठजी के द्वार पर भी आ पहुँचे। चन्दना आँख लगाये बैठी ही थी। अपने घर में अतिथि को आते देख कर वह पुलकित हो उठी। भगवान् चन्दना के समक्ष आकर खड़े हो गये। अभिग्रह की सभी बातें मिल गई थीं किन्तु एक बात का फिर भी अभाव था। चन्दना की आँखों में आँसू नहीं थे। अतः तपस्वी जैसे आया था वैसे ही लौट पड़ा।

अपने घर में आये हुए अतिथि को जब उसने खाली हाथों लौटते देखा तो चन्दना की आँखें भर आई। उसने अवरुद्ध कंठ से सिसकते होते हुए कहा—'भगवन्! क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है?

और यह सुन तपस्वी ने मुड़कर देखा—तो चन्दना के दुखी दिल में ममता की एक किरण जगमगा उठी। होठों पर

लिया कि मैंने अपना भय सदैव के लिये दूर कर दिया है। चन्दनबाला अब जीवित नहीं रह सकेगी। वह अन्दर पडी-पड़ी ही सूख जायेगी। लेकिन मूला के शकित मन मे यह भाव कैसे आ सकते थे कि—

जाको राखे साइयॉ, मारि सकै ना कोय।
बाल न बाँका करि सके, जो जग वैरी होय॥

(५)

स्त्रियाँ स्वभाव से ही भीरु होती हैं। आवेश में आकर जब वे कोई अनर्थ कर बैठती हैं तो फिर भयातुर हो घबराने लगती हैं। जब तक वे अपने दोष से मुक्त नहीं हो जातीं तब तक वे दुनियाँ की नजरों से बडी सावधान रहती हैं। मूला भी अब यही अनुभव कर रही थी। उसने सोचा कोई चन्दनबाला के लिये पूछेगा तो मैं क्या उत्तर दूगी? इसी भय से व्याकुल होकर वह अपने मकान से ताला लगा अपने पीहर चली गई।

तहखाने में पड़े-पडे चन्दना को तीन दिन व्यतीत हो गये। वह अपनी माता धारिणी के अनमोल बोल भूली नहीं थी। उसने कहा था—'बेटी, मुसीबत में एक भगवान् ही का सहारा होता है। जो भगवान् को नहीं भूलता, भगवान् उसकी रक्षा करते हैं।' और चन्दना प्रभु-स्मरण कर उस काल-कोठरी में भी अपूर्व आनन्द का अनुभव कर रही थी।

चौथे दिन जब सेठजी लौटे तो घर का ताला बन्द देख उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सोचा—मूला अपने घर चली गई होगी, पर चन्दना कहाँ होगी ? कहीं मूला ने उसके साथ अन्याय तो नहीं कर डाला ? सेठजी का हृदय अनिष्ट की आशंका से एक बार कांप उठा।

मूला खुद तो नहीं आई, पर उसने अपने नौकर के साथ चाबियाँ भेज दीं। सेठजी ने ताला खोला और मकान में प्रवेश कर चारों तरफ देखा, लेकिन चन्दना का पता न चला। वे बार-बार से आवाज देकर उसे पुकारने लगे। ज्यों ही चन्दनबाला के कानों में यह ध्वनि पहुंची उसने अपने क्षीण स्वर में कहा—'पिताजी ! मैं यहाँ हूँ।' चन्दना का स्वर सुनते ही सेठजी के जी में जी आया। उन्होंने तलघर को खोला और चन्दना को बाहर निकाला। चन्दनबाला का मुंडा हुआ सिर, शरीर पर लगी हुई काछ हथकड़ियों से जकड़े हुए हाथ और बेड़ियों से कसे हुए पांवों को देख कर सेठजी की आँखें भर आईं। वे फूट-फूट कर रोने लगे।

और चन्दना पिता की ऐसी दशा देख कहने लगी—पिताजी इसमें किसी का दोष नहीं है। यह सब मेरे कर्मों का ही फल है। किये हुए कर्मों को तो भोगना ही पड़ता है। आप अपने मन को क्यों छोटा कर रहे हैं, मुझे भूख लगी है, पहले कुछ खाने को दीजिये।

सेठजी अपने आसुओं को पोछते हुए उठे और इधर-उधर घूमें, पर कोई वस्तु उन्हें खाने की दिखाई नहीं दी। केवल एक जगह सूप में कुछ उडद के बाकले दिखाई पडे। सेठजी ने वे ही चन्दना के सामने लाकर रख दिये और लुहार को बुलाने के लिये बाहर चल दिये।

चन्दना बाकलों को लेकर देहली पर बैठ गई। लेकिन खाने से पहले वह किसी अतिथि का इन्तजार करती हुई बाहर की ओर देखने लगी।

(६)

तपस्या से कृश बना हुआ एक तपस्वी भिक्षा के लिये रोज लोगों के घरों मे प्रवेश करता था, लेकिन जब देने वाले को देखता तो वह कुछ लिये बिना ही वापिस लौट जाता था। लोगों को बड़ा आश्चर्य होता, लेकिन तपस्वी बिना कुछ कहे सुने ही चल देता था। इस तरह करते-करते आज उसे ५ महिनें और २५ दिन पूरे हो चुके थे। इस बीच तपस्वी ने अपने मुँह में अन्न का दाना भी नहीं डाला था।

तपस्वी और कोई नहीं, स्वय भगवान् महावीर ही थे। जीवन-साधना करते-करते एक दिन उन्होंने अपने प्राणों पर भी बाजी लगादी और यह निश्चय कर बैठे कि कोई अविवाहित राजकन्या, जो सदाचारिणी और निरपराध हो, फिर भी उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पाँवों में बेड़ियाँ पडी हुई

हों सिर के बाल मुँडे हुए हों शरीर पर काछ लगाई हुई हो तीन दिन से भूखी हो, खाने के लिये उड़द के बाकले लेकर बैठी हो और किसी अतिथि का इन्तजार कर रही हो। न घर में हो न घर के बाहिर हो एक पाँव देहली के भीतर और एक पैर बाहिर हो मुँह प्रसन्न हो लेकिन आँखों में आँसू भी हों— ऐसी राजकन्या अगर मुझे अपने भोजन में से दान दे तो मैं आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा छः मास तक निराहार रहूँगा।

कितनी कठोर साधना थी साधक की? भगवान् घूमते घूमते सेठजी के द्वार पर भी आ पहुँचे। चन्दना आँख लगाये बैठी ही थी। अपने घर में अतिथि का आते देख कर वह पुलकित हो उठी। भगवान् चन्दना के समक्ष आकर खड़े हो गये। अभिग्रह की सभी बातें मिल गई थी किन्तु एक बात का फिर भी अभाव था। चन्दना की आँखों में आँसू नहीं थे। अतः तपस्वी जैसे आया था वैसे ही लौट पड़ा।

अपने घर में आये हुए अतिथि को जब उसने खाली हाथों लौटते देखा तो चन्दना की आँखें भर आई। उसने अवरुद्ध कंठ से निश्वास लेते हुए कहा—'भगवन्! क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है?

और यह सुन तपस्वी ने मुड़कर देखा—तो, चन्दना के दुखी दिल में आशा की एक किरण जगमगा उठी। होठों पर

मुस्कान छागई। आँखों में आँसू और होठों पर खुशी। सुख-दुख का यह मधुर मिलन देख कर तपस्वी वापिस लौट आया और चन्दना के समक्ष अपने हाथ फैला कर खड़ा हो गया। चन्दना ने अपने पास में रखे हुए उडद के बाकलों का प्रभु को दान दिया। साधक की साधना पूरी हुई। चन्दना का दुख दूर हुआ। आकाश में देवताओं ने जय-जय कार किया—'सती चन्दन बाला की जय।' सेठजी के घर में सोनैयो की वृष्टि हुई। चन्दना की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ आभूषणों के रूप में परिवर्तित हो गई। शरीर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित हो गया। उसके सिर पर सुन्दर लम्बे-लम्बे केश आगये। इन्द्रादि देवों ने उसे रत्नजटित सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया।

यह बात हवा की तरह सारे शहर में फैल गई। मूला ने सुना तो सोनैयों को बटोरने के लिये दोड़ी आई। लेकिन उसने जब चन्दनबाला को स्वर्ण जटित सिंहासन पर बैठे देखा तो उसका सिर लज्जा से नीचे झुक गया। चन्दना ने अपना सिर मूला के चरणों में रखते हुए कहा—'माताजी! यह सब आपकी कृपा का ही फल है। मूला पृथ्वी में समाई जा रही थी, पर चन्दना अपना सिर उसके पाँवों पर रगड़ रही थी।

सेठजी खुशी-खुशी घर लौटे। मूला के पाँवों में चन्दना को देख कर उनसे न रहा गया। वे मूला को बुरा-भला कहने

लगे। चन्दना ने खड़ी होकर सेठजी को प्रणाम किया और उन्हें शान्त कर दोनों को अपने साथ सिंहासन पर आरूढ़ किया।

लोगों को मालूम हो गया कि जो लड़की उस दिन बाजार में बिक रही थी वह महाराजा दधिवाहन की पुत्री थी। उसीके पवित्र हाथों से आज भगवान् महावीर का अभिग्रह पूरा हुआ है। फिर क्या था? देखते ही देखते लोगों की भीड़ चन्दनबाला को देखने के लिए उमड़ पड़ी। कौशाम्बी नगरी के राजा शतानीक भी अपनी रानी मृगावती के साथ सेठजी के घर पर आये। रानी मृगावती का हृदय खुशी से फूला नहीं समा रहा था। वह चन्दनबाला की मौसी जो थी। शतानीक चन्दनबाला के निकट आकर बोले—'बेटी, मैं पापी हूँ। मुझे क्षमा करो। अब मेरे राजमहलों में चलकर उन्हें पवित्र करो।'

चन्दना ने दोनों को प्रणाम किया और कहा—'आप मेरे पिता तुल्य हैं राजन्, और मौसी माता तुल्य। मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं समझती। लेकिन क्या उन्हीं राजमहलों में आप ले जाना चाहते हैं, जिनमें रहते हुए निर्दोष प्राणियों को सताया जाता है और अपने राज-मद में दूसरों का राज्य उजाड़ा जाता है?

शतानीक ने अपना सिर नीचे झुका लिया। वह निरुत्तर था। चन्दना ने कहा—'राजन्! राजे-महाराजे जनता की

भलाई के लिये होते हैं, न कि उसे सताने के लिये। वे स्त्री जाति की इज्जत बचाने के लिये होते हैं, न कि उसकी इज्जत लूटने-लुटाने के लिये। उनका हृदय अपने राजमहलों की तरह विशाल होना चाहिए, न कि अकिचन की अँधेरी कुटिया की तरह सकीर्ण। उनकी सेना से जनता की रक्षा की जानी चाहिये, न कि विनाश। आप राजा हैं और मैं एक राज-कन्या हूँ। अत मैं यह जानना चाहती हूँ कि आपको महाराजा दधिवाहन की नगरी उजाड़ कर किस आनन्द की प्राप्ति हुई? क्या आप जानते हैं कि आप के सिपाहियों ने वहाँ क्या किया था?'

राजा नतमस्तक हो सुन रहा था। चन्दना ने कहा—'आप का ही एक रथी जब मुझे और मेरी माता को भी दुर्भावना वश अपने रथ में बैठाकर जंगल की ओर ले चला तो फिर प्रजा की बहू-बेटियों के साथ कैसा व्यवहार हुआ होगा? क्या आप नहीं जान सकते? मेरी माता असाधारण माता थी। उसने अपने सतीत्व की रक्षा में अपनी आहुति दे दी पर कलक की काली छाया न पड़ने दी।'

मृगावती के हृदय में जबरदस्त ठेस पहुँची। अपनी बहन का इस प्रकार दुखद अवसान सुनकर उसकी आँखों से आँसू बह चले। राजा शतानीक का कठोर दिल भी धारिणी के नाम पर पिघल पड़ा। टप, टप कर उसकी आँखों से आँसू गिर

पड़े। चन्दना ने सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मेरी माता ने पवित्र धर्म कार्य में अपनी आहुति दी है। उसके लिए दुख करना उचित नहीं है। दुख तो इस बात का करिए कि आपके अंधे सैनिकों ने स्वच्छन्द बन कर कितनी स्त्रियों का शीलभंग किया होगा। कितनों का सुख-सुहाग छीना होगा? क्या यही राजा का न्याय है?

शतानीक ने कहा—'बेटी, मैं पापी हूँ। मैं अपराधी हूँ। मैं दुनियाँ को मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। लो मेरा सिर तुम्हारे सामने है। जरूरत समझो तो इसे धड़ से अलग करवा दो।' और इतना कह कर शतानीक चन्दना के सामने सिर नीचा कर खड़ा हो गया।

चन्दना ने कहा—'पिताजी अपराधी के सिर को अलग देने से पाप नहीं धुल जाता है। पाप धुलता है पश्चाताप से। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आपने अपने मन को पश्चाताप की भट्टी में झोंक कर पवित्र कर लिया है।

रथी ने लोगों की भीड़ को चीरते हुए कहा—'महाराज! राज-माता धारिणी की मौत का कारण मैं हूँ। मेरे ही कारण इस सती का मुसीबतों का सामना करना पड़ा। अतः मुझे दंड है। मैं अपराधी हूँ।'

रथी की दृढ़ता देखकर चन्दना को मन ही मन बड़ी खुशी हुई। उसने राजा से कहा—'पिताजी सच्चा राजा वह है जो

मनुष्य का शरीर नहीं हृदय परिवर्तन कर दे। अपराधी जब स्वय अपने अपराध से घृणा कर पश्चात्ताप करने लगता है तो उसे देह-दड की आवश्यकता नहीं रहती ? इसलिए अब न आपको दड देने की जरूरत है और न रथी को ही। मुझे इन्होंने पाला-पोसा है अत मेरे लिए यह भी आपकी तरह आदरणीय हैं। आप भी इन्हें अपना भाई समझें।'

शत नीक ने रथी को अपने भाई की तरह गले लगाया। उनके इस अपूर्व मिलन को देख सभी आनन्द-मग्न हो नाचने-से लगे।

चन्दनवाला अब सेठजी की अनुमति प्राप्त कर राजमहलों की ओर चली।

(७)

जो विशाल राज-महल विषय-वासनाओं के घर बने हुए थे, वे ही अब चन्दनवाला के प्रभाव से धर्म-स्थान बन गए। अब वहाँ पर धर्म-संवाद होने लगे। इस तरह चारों तरफ वातावरण शान्त और कमनीय बन गया।

शतानीक ने महाराज दधिवाहन को खोजने के लिए अपने आदमी भेजे। वे प्रसन्नता-पूर्वक दधिवाहन को ढूँढकर कौशाम्बी ले आये। शतानीक ने दधिवाहन के चरणों में गिर-कर अपने अपराधों की क्षमा माँगी और प्रेम पूर्वक उन्हें अपने महलों में लाया। चन्दनवाला अपने पिता से मिलने आई।

पास आकर उसने अपने पिता को प्रणाम किया। अपनी लाड़ली कन्या को देखकर दधिवाहन का दिल भर आया। आँखों से प्रेमाश्रु बह चले और गला रुँध गया। धारिणी के आदर्श त्याग और चन्दनबाला की अपूर्व दृढ़ता के सामने वे मौन हो नतमस्तक हो गए।

शतानीक ने मौन भंग करते हुए कहा—'महाराज ! चम्पा और कौशाम्बी का राज्य अब आप सँभालें। मैं अन्यायी शासक हूँ। मुझे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं अब अपने पापों का प्रायश्चित करूँगा।

दधिवाहन ने कहा –'जब मनुष्य का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसके पाप भी नष्ट हो जाते हैं। मैं वृद्ध हो गया हूँ। अतः दोनों राज्यों को आप ही सँभालें।

जिस राज्य के लिए घोर नर-संहार किया गया था, उसी राज्य को अब दोनों योद्धा एक दूसरे पर न्योछावर कर रहे थे। कैसा मनोहर दृश्य होगा वह ! सच है धर्म की एक किरण भी मनुष्य को नर से नारायण और दानव से मानव बना देती है।

अन्त में चन्दनबाला के अनुरोध से दोनों ने अपने-अपने राज्य का भार ग्रहण किया। चन्दनबाला का अधूरा स्वप्न भी पूरा हुआ। चम्पापुरी की प्रजा अपने खोये हुए राजा को पाकर प्रसन्नता से फूल उठी।

मनुष्य का शरीर नहीं हृदय परिवर्तन कर दे। अपराधी जब स्वय अपने अपराध से घृणा कर पश्चात्ताप करने लगता है तो उसे देह-दड की आवश्यकता नहीं रहती? इसलिए अब न आपको दड देने की जरूरत है और न रथीं को ही। मुझे इन्होंने पाला-पोसा है अत मेरे लिए यह भी आपकी तरह आदरणीय हैं। आप भी इन्हें अपना भाई समझें।'

शत नीक ने रथी को अपने भाई की तरह गले लगाया। उनके इस अपूर्व मिलन को देख सभी आनन्द-मग्न हो नाचने-से लगे।

चन्दनबाला अब सेठजी की अनुमति प्राप्त कर राजमहलों की ओर चली।

(७)

जो विशाल राज-महल विषय-वासनाओं के घर बने हुए थे, वे ही अब चन्दनबाला के प्रभाव से धर्म-स्थान बन गए। अब वहाँ पर धर्म-सवाद होने लगें। इस तरह चारों तरफ वातावरण शान्त और कमनीय बन गया।

शतानीक ने महाराज दधिवाहन को खोजने के लिए अपने आदमी भेजे। वे प्रसन्नता-पूर्वक दधिवाहन को ढूंढकर कौशाम्बी ले आये। शतानीक ने दधिवाहन के चरणों में गिर-कर अपने अपराधों की क्षमा माँगी और प्रेम पूर्वक उन्हें अपने महलों में लाया। चन्दनबाला अपने पिता से मिलने आई।

पास आकर उसने अपने पिता को प्रणाम किया। अपनी लाड़ली कन्या को देखकर दधिवाहन का दिल भर आया। आँखों से प्रेमाश्रु बह चले और गला रुँध गया। धारिणी के आदर्श त्याग और चन्दनबाला की अपूर्व दृढ़ता के सामने वे मौन हो नतमस्तक हो गए।

शतानीक ने मौन भंग करते हुए कहा—'महाराज ! चम्पा और कौशाम्बी का राज्य अब आप भोगें। मैं अन्यायी शासक हूँ। मुझे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं अब अपने पापों का प्रायश्चित करूँगा।'

दधिवाहन ने कहा—'जब मनुष्य का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसके पाप भी नष्ट हो जाते हैं। मैं वृद्ध हो गया हूँ। अतः दोनों राज्यों को आप ही सँभालें।'

जिस राज्य के लिए घोर नर-संहार किया गया था, उसी राज्य को अब दोनों योद्धा एक दूसरे पर न्योछावर कर रहे थे। कैसा मनोहर दृश्य होगा वह ! सच है धर्म की एक किरण भी मनुष्य को नर से नारायण और दानव से मानव बना देती है।

अन्त में चन्दनबाला के अनुरोध से दोनों ने अपने-अपने राज्य का भार ग्रहण किया। चन्दनबाला का अधूरा स्वप्न भी पूरा हुआ। चम्पापुरी की प्रजा अपने खोये हुए राजा को पाकर प्रसन्नता से फूल उठी।

भगवान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। चन्दनबाला अपने पूर्व निश्चयानुसार भगवान से दीक्षित होने चलीं। कौशाम्बी की जनता ने अपनी आँखों से आँसू बहाते हुए उसे विदा दी।

भगवान् ने उसे दीक्षित कर स्त्री तीर्थ का आरम्भ किया। सर्व प्रथम दीक्षित होने से भगवान ने उसे साध्वी सघ की मुखिया नियुक्त की।

धीरे-धीरे चन्दनबाला की तरह कई स्त्रियों ने भगवान से दीक्षा ग्रहण की। रानी मृगावती ने भी दीक्षित होकर चन्दनबाला का साथ दिया। पाठक भूलें नहीं, यह वही मृगावती है, जो शतानीक की रानी और चन्दनबाला की मौसी थी। इस प्रकार ३६ हजार साध्वियों की प्रधान बन चन्दनबाला धर्म-प्रचार के कार्य में लगी।

एक बार कौशाम्बी नगरी मे भगवान महावीर पधारे। चन्दनबाला भी अपने साध्वी-परिवार सहित वहाँ आई। मृगावती चन्दनबाला की आज्ञा ले प्रभु को वन्दन करने गई। सन्ध्या का समय था। सूर्य देव स्वय भगवान की सेवा में उपस्थित थे। अत उसे दिन का कुछ भी पता न चला। वापिस लौटी तो मार्ग में ही उसे रात हो गई। चन्दनबाला ने मृगावती को उलाहना दिया। मृगावती अपने अपराध का पश्चात्ताप करने लगी। यथासमय चन्दनबाला आदि सब

सतियाँ अपने-अपने स्थान पर सो गईं लेकिन मृगावती बैठी-बैठी पश्चात्ताप ही करती रही। फिर क्या था ? मैल आखिर कब तक सोने में घुला-मिला रह सकता है ? अग्नि के ताप में सोना सोना रह जाता है और मैल भस्म हो जाता है। पश्चात्ताप की अग्नि से मृगावती की आत्मा निर्मल हो गई। कर्म-मल जलकर भस्म हो गया। उसके हृदय में ज्ञान का निर्मल प्रकाश जगमगा उठा।

रात अँधेरी थी। लेकिन मृगावती के लिये अब अँधेरी रातें भी दिन की तरह हो गईं। अब उसे प्रकाश की आवश्यकता न रही। वह स्वयं प्रकाशमान बन गई थी। उसी समय उसने अपने ज्ञान से एक भयंकर काला सर्प आते हुए देखा। चन्दनबाला का हाथ उसके मार्ग में था। मृगावती ने हाथ उठा लिया। साँप अपनी गति से आगे चला गया। लेकिन हाथ का स्पर्श होते ही चन्दनबाला जाग उठी। उसने कहा—'कौन ? किसने मेरा स्पर्श किया है ?'

मृगावती ने क्षमा माँगते हुए साँप की बात कही। चन्दनबाला ने कहा 'इस घनी अँधियारी में आपने साँप को कैसे देखा ?'

मृगावती ने कहा—'आपकी कृपा से ?'

चन्दनबाला—'क्या निर्मल पूर्ण प्रकाश तुम्हें प्राप्त हुआ ?'

मृगावती ने फिर उसी शान्त स्वर से कहा—'आपकी कृपा से।'

चन्दनबाला ने तत्क्षण उठकर मृगावती को नमस्कार किया और सोचा—'मृगावती शुद्ध-बुद्ध और पूर्ण बन चुकी है। मैंने नाहक उसको उलाहना दिया? केवली अविनय के इस पाप से अब मैं कैसे छूट सकूँगी? इस तरह वह मन ही मन में पश्चाताप करने लगी।

मन की गति विचित्र है। एक क्षण में इस पार तो दूसरे क्षण उस पार पहुंचते हुए उसे विलम्ब नहीं होता। चन्दनबाला ज्यों ही पश्चाताप की तीव्र अग्नि में झुलसी, त्यों ही मृगावती की तरह शुद्ध-बुद्ध और निर्मल बन गई। उसके हृदय में भी अनुपम प्रकाश जगमगा उठा।

सवेरा हुआ, तो लोगों की अपार भीड़ भगवान महावीर को नमस्कार कर चन्दनबाला के दर्शनार्थ दौड़ी आ रही थी। उन सबका एक ही स्वर था—

"सती चन्दनबाला की जय!"
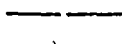
राजीमती

बात बहुत पुरानी है, पर है अपने ढंग की एक ही। जैसी कि आप देखने सुनने में नहीं आती। और वह यों है—

यौवन में मदमाती सुकुमारी अपने भाग्य-पति द्वारा ठुकरा दी गई। दो बातें भी न हुईं और मन की मन में ही रह गई। वक्षस्थल पर पड़ी हुई फूलों की माला अब उसे शूल देने लगी उसके चुभने लगी। उसका मधुर स्वप्न भग्न हो गया था। उसके प्रेम पूरित हृदय को एक धक्का-सा लगा और वह बेसुध हो गई।

हाँ, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पतिव्रता स्त्री जिसे एक बार अपना हृदय समर्पित कर देती है (चाहे वह स्वप्न में भी क्यों न किया जाय) उसके लिए इस दुनिया में सिवाय अपने उस भाग्य धन के और हो ही कौन सकता है,

जिसे वह पाने की इच्छा करे। और उग्रसेन दुलारी नवयौवना सुकुमारी राजुल भी उन्ही सतियों में से एक थी।

(२)

श्री कृष्ण के चचेरे भाई कुमार नेमिनाथ तोरन पर आकर भी राजुल को ठुकरा देंगे, दो प्रेम की बातें भी न करेंगे, यह कौन जानता था। ? पर राजुल के भाग्य में यही था।

(३)

माता का हृदय स्वभावत कोमल होता है। अपनी सन्तान के प्रति उसके हृदय में प्रेम का निर्मल झरना झरता रहता है। वह व्यक्ति भी अभागा है जिसने इस ससार में आकर भी अपनी माँ का दुलार न जाना हो। राजुल अपनी माता की गोद में मूर्च्छित पड़ी थी।

'क्या वे चले गए ?' राजुल की मूर्छा दूर हुई। 'सन्यासी बन कर··· ? सच या झूठ ? मैं सपना तो नहीं देख रही हूँ ?' माता की गोद से सिर उठाते हुए राजुल ने कहा।

'बेटी। निराश मत हो। यह सच है कि कुमार नेमिनाथ चले गए हैं। वह कायर थे, जो ससार से डरकर साधु बन गए। अगर साधु ही बनना था तो मेरी बेटी का सुहाग बन कर आए ही क्यों ? निर्दय कहीं के। बेटी, तू दुख क्यों करती है ? मैं कल ही तेरे लिए किसी दूसरे वर की तलाश कराऊँगी।' राजुल के सिर पर हाथ फेरती हुई उसकी माँ ने कहा।

राहुल—'यह क्या कहती हो माँ ! तुम्हीं ने तो कहा था कि वीर ललनाएँ अपने पति को छोड़कर किसी दूसरे की आराधना नहीं करतीं ? वे अपना हृदय देतीं हैं तो किसी एक को ही। माँ ! क्या तुम मुझसे यह नहीं चाहतीं ?

माता—'बेटी अभी तेरा विवाह भी कहाँ हुआ है जो तू यह कहती है।'

राहुल—'माँ हृदय तो विवाह के पहले ही दे दिया जाता है। फिर विवाह कैसा ? विवाह दुनियाँ की नजरों में दो प्राणियों का शारीरिक बंधन है। लेकिन हृदय का बंधन कब कौन देख पाता है ? उसकी गाँठ अगर पड़ गई तो फिर खुलती नहीं है, टूट भले ही जाय।'

'माँ तुम उन्हें कायर कहती हो लेकिन वे कायर नहीं थे जो दुनियाँ से डर कर चले गए हों। दुनियाँ से डरने वाले डरपोक आदमी दुनियाँ में दबकर ही रहना जानते हैं, अपना मुँह ऊँचा कर जीना नहीं जानते। वे दुनियाँ से लेते ही लेते हैं बदले में कुछ देना नहीं जानते। लेकिन सच्चे वीर पुरुष तो वही होते हैं जो इस दुनियाँ को ठोकर मारकर चले जाते हैं। जो संसार से लेते कुछ ही हैं; मगर उसे देते अपना सब कुछ हैं। यही तो उन महापुरुषों का लोक-कल्याण है, माँ। कुमार साधु बने तो हमारी भलाई के लिए। हिंसा की लपटों में झुलसती हुई दुनियाँ को शीतल सुधा का पान कराने के

लिए ! माँ, उन्हें निर्दय न कहो। वे तो दया के सागर हैं। देखो इस झाड पर बैठे हुए ये पक्षियों के जोडे भी कितने प्रेम से उन्हें पुकार रहे हैं ?'

राजुल—परिवार मुँह नीचा किए बैठा था, लेकिन राजीमती अपनी वेग मे बहती हुई चली जा रही थी। उसने कहा—'पति, पथ-प्रदर्शक होता है पत्नी का । पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह अपने पति की अनुगामिनी रहे। सुख-दुख मे सहगामिनी रहे। तभी तो उसे अर्धांगिनी कहा गया है।

कुमार नेमिनाथ जीवन में अमृत की खोज करने गए हैं तो क्या मैं यहीं विषपान करती रहूं ? पति की खुशी में अपनी भी खुशी क्यों न मानू । जब वे इस ससार को असार समझकर चले गए तो मैं क्यों यहाँ रहूँ ? प्रभु जगल की यातनाऐं सहन करते रहें, भूख-प्यास, शीत-उष्ण सब सहते रहें और मैं राजमहलों में मौज करती रहूं ! तो, यह न हो सकेगा, माँ, मुझे आज्ञा दो, मा, मैं भी उसी मार्ग पर आगे बढ़ूँगी, जिस मार्ग पर मेरे नाथ गये हैं। मुझे आज्ञा दो, माँ !'

राजुल के माता-पिता ने उसे बहुत समझाया, लेकिन उसको जाने से कोई रोक न सका। वह अपने प्रियतम् से मिलने के लिए विकल हो उठी।

(४)

गिरनार पर्वत सामने ही दिखाई दे रहा था। आकाश

मेघाच्छन्न था। देखते ही देखते पानी बड़े वेग से आया। राजुल तेजी से अपने कदम बढ़ाती हुई चली जा रही थी, पर अब चारों तरफ अंधकार छा गया था। और जब मार्ग दीख-पड़ना कठिन हो गया—तो, लाचार हो राजुल को पास ही एक गुफा में रुक जाना पड़ा। गुफा गहरे अंधकार से भरी थी। और राजुल को देखन पर वहाँ कुछ भी नहीं दीख पड़ता था।

और राजुल ने सोचा—भीगे अपने वस्त्रों को सुखा लेने का यह अच्छा अवसर है।

हवा तेजी से बह रही थी। बादल गरज रहे थे। बिजली चमक रही थी। सहसा अंधकार पूर्ण गुफा भी बिजली की जगमगाहट से चमक उठी। गुफास्थित ध्यानस्थ योगी ने राजुल को देखा—और देखा काम पूर्ण नेत्रों से उस अपूर्व नग्न बाला को। फिर क्या था? काम की एक चिनगारी ही मनुष्य को जला कर खाक कर देती है। जिस आग से विश्वामित्र जैसे महायोगी भी न बच सके तो साधारण योगी की तो बात ही क्या? योगी के हृदय में भोग लालसा जागृत हुई और वह अपने आसन से उठा। लेकिन राजुल इस ओर से अभी बेखबर थी।

"देवी!" राजुल के पास आकर योगी ने कहा।

'कौन ?' अपने वस्त्रों को शीघ्रता से धारण करती हुई राजुल बोली। योगी ने पुन मधुर शब्दों में कहा—'देवी ! इस सुनसान गुफा में तुम यहाँ कैसे ? तुम्हारी जैसी सुन्दरियों का यहाँ आवास नहीं, चलो हम ससार में चलें और सुख-शैया पर शयन करें। तुम्हें पाकर आज मैं धन्य हुआ देवी !'

पानी रुक गया। आसमान ने रग बदला। प्रकाश की किरणें फिर से पृथ्वी पर झाँकने लगीं। राजुल ने अपने सामने खड़े हुए उस सुडौल अग गौर वर्ण योगी को देखा।

और तब उसने कहा—'मैं पूछती हूँ, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?' अब उसका स्वर कुछ तीखा था।

'देवी ! मैं समुद्रविजय का नन्द और कुमार नेमिनाथ का लघु भ्राता रहनेमि हूँ। ससार से दूर रहकर न जाने कितने दिन रात मैंने इस गुफा में व्यतीत कर दिए, लेकिन आज तुम्हें अपने सामने देखकर कृतकृत्य हुआ हूँ। मेरी वर्षों की साधना सफल हुई है। देवी ! क्या अब भी यह बताऊँ कि मैं क्या चाहता हूँ ?' प्रेमातुर नयनों से देखते हुए योगी ने कहा।

राजुल ने बडे आश्चर्य से कहा—'कुमार रहनेमि ! समुद्र-विजयजी के नन्द ? उनके लघुभ्राता ? जो ससार से विरक्त थे वे आसक्त बने ? मन की गति बड़ी विचित्र है। वह बड़े-बड़े योगियों को भी पथ-भ्रष्ट करने में देरी नहीं करता। कुमार !

तुम जिस रूप पर मोहित हो योगी से भोगी बनने की लालसा कर रहे हो, वह दरअसल कुछ नहीं-जड़ पदार्थ है, पल-पल में नष्ट होने वाला है। जिसे विष समझ कर तुमने एक बार छोड़ दिया, क्या फिर उसी विष का पान करना चाहते हो ? वमन किये हुए पदार्थ को फिर से चाटना चाहते हो ? संसार के सब सुखों को ठोकर मारने वाले रथनेमि, क्या तुम मुझे भी उसी विष का पान कराना चाहते हो ? और चाहते हो पतित और घृणित बनाना ? कुमार ! तुम्हारी तो बात ही क्या ? जो तुम ऐसा कर सको। स्वयं कामदेव भी क्यों न आ जाय, पर वह भी मुझे अपने पथ से डिगा नहीं सकता। रथनेमि ! तुम मुझे नहीं जानते ? मैं उग्रसेन की पुत्री राजीमती और तुम्हारे अग्रज नेमिनाथ की अनुगामिनी हूँ। जरा अपने भाई की ओर तो देखो जिस रूप को देखकर तुम पागल बन रहे हो उन्होंने उसे पाकर भी ठुकरा दिया। उस रूप की ओर देखा तक नहीं ? कुमार ! नारी का यह रूप कुछ नहीं—एक धोखा है। उस धोखे से अब तुम एक बार मुक्त हो चुके हो—तो उसमें फँसने की फिर कोशिश मत करो। अपने इतने दिनों की तपस्या में जब तुम यों आग लगा लोगे तो तुम्हें मिलेगा क्या—राख की एक ढेरी—और वह तुम्हारे किसी भी काम में न आयेगी। सावधान कुमार ! नारी माया है और उसमें तुम न उलझो।'

(५)

वासना क्षणिक होती है। रहनेमि के नेत्र खुल गये और राजुल के चरणों में अपना शीश रख उसने कहा—'माँ, मुझे क्षमा करो।'

और राजुल का वरद्हस्त अब कुमार रहनेमि के झुके शीश पर ऊपर उठा था।

फिर,

राजुल अपने प्रियतम के दर्शन कर अपनी साधना में सफल हुई। भगवान् नेमिनाथ के साथ सती राजुल भी सिद्ध हुई। और कुमार रहनेमि भी। अब राजुल अमर है।

सुभद्रा

मन ही मन सुभद्रा के सौन्दर्य पर मोहित हो आगन्तुक ने फुसफुसाकर कहा—'तो सुभद्रा अभी अविवाहित है।'

'जी ! विवाह तो कभी का हो गया होता। मगर फूल-सी बिटिया सुभद्रा की एक शर्त है—।

आगन्तुक ने आश्चर्य से पूछा—'क्या ?

'शर्त यही कि उसका पति भगवान् महावीर का अनुगामी हो।'

और यह सुनते ही आगन्तुक अपना सिर नीचा कर वहाँ से चल दिया। वह था बुद्धदास। व्यापार करने के लिये इस नगर में आया था। मगर वह सोचने लगा—

सुभद्रा—रूप की रानी। नगर सेठ जिनदास की कन्या ? चाँद-सा मुखड़ा और गुलाब से अधर ?

बुद्धदास भी युवक था—सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और एक सेठ का लडका। परन्तु सुभद्रा की शर्त उसके सामने दीवार बन कर खड़ी थी। वह भगवान् बुद्ध का अनुयायी था।

मगर उसने सोचा—कुछ दिनों के लिये वह जैन-धर्म स्वीकार कर सकता है--और इस प्रकार सुभद्रा को प्राप्त कर वह बौद्ध हो सकता है।

और यही उसने किया भी। तो, वह सफल मनोरथ हुआ।

सेठ जिनदास ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया।

(२)

सुभद्रा अपने पति के साथ सुसराल आई। अपने घर की तरह यहाँ भी वह व्रत-नियम करने लगी। सुभद्रा की सास को यह कैसे अच्छा लग सकता था ? तो, एक दिन उसने कहा—'बहूरानी ! महावीर २ जपना तो मूर्खों का काम है और यह तू क्या बोलती है—

अरिहन्ते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि। सद्भाग्य से तुझे हमारे यहॉ बुद्ध का महान् धर्म मिला है। अब तू महावीर को भूल जा और कहाकर— बुद्ध शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि।'

मगर सुभद्रा ने विनय सहित कहा—'माताजी ! आपकी आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य है क्योंकि मैं आपकी बहू बन कर यहाँ पर आई हूँ। लेकिन अपने धर्म को छोड़ने में मैं असमर्थ हूँ। मैंने जिस पवित्र धर्म को अपनाया है वह आपके लिए किसी प्रकार भी अहितकार न होगा।'

सास—'आखिर नादान ही तो ठहरी। बहू ! मैं तो तेरी भलाई के लिये ही कहती हूँ। बौद्ध-धर्म स्वीकार करते ही सब ओर तेरी बड़ाई होने लगेगी। मैं घर का सारा भार तुझे सौंप दूँगी। नादानी मत कर और बौद्ध-धर्म को स्वीकार करले।'

सुभद्रा—'माताजी ! मुझे इस झूठे मान-सम्मान की जरूरत नहीं है। मुझे तो 'स्वधर्म' ही प्यारा है। जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेगा, तब तक मेरी जबान पर महावीर रहेगा।

सास—'हूँ—! बातों के देव लातों से थोड़े ही मानते हैं। देखती हूँ तू कैसे नहीं मानती है ? बुद्धदास के डंडों की चोटें तुझे मनावेंगी।

(३)

बुद्धदास—'सुभद्रा !

सुभद्रा—'प्राणनाथ !

बुद्धदास—'क्या तू समझाने पर भी नहीं मानती ? इस तरह हठ करना ठीक नहीं है। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।

सुभद्रा—'प्राणनाथ आप चाहे जितना कष्ट दें मैं उसे

हँसती-हँसती सहन करूँगी, लेकिन अपने धर्म को नहीं छोड़ूँगी। मैं नहीं चाहती कि आपकी तरह कृत्रिम स्वाँग बनाकर मैं भी आप सबको धोखा दूं।'

बुद्धदास ने आँखें लाल करते हुए कहा—'बस, चुप रह। अब अधिक मैं सुनना नहीं चाहता। यह अच्छी तरह समझ लेना कि जब तक तू बौद्ध-धर्म स्वीकार नहीं करेगी तब तक मैं तुझ से बोलूँगा भी नहीं। देखता हूँ कब तक तू अपना धर्म नहीं छोड़ती है?'

सुभद्रा—'आप जैसा उचित समझें, करें। आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपकी दासी। हम स्त्रियों को तो संसार में केवल अपने पति का ही सहारा होता है। अगर वह छोड़ दे तो क्या परमात्मा भी छोड़ देगा।'

बुद्धदास की दाल न गली। विवश हो वह उठ कर बाहर चल दिया।

४)

मनुष्य जब हार खा जाता है तो क्रोध-वश उल्टे उपायों का सहारा लेता है। जब बुद्धदास के घरवाले सुभद्रा के सत्य धर्म के आगे मात खा गये तो उन्होंने भी प्रतिकूल मार्ग का अनुसरण किया। वे उसे तरह-तरह से व्यथाएँ पहुँचाने लगे। मगर वे सब सुभद्रा को तकलीफ देते-देते थक गये, पर सुभद्रा मुसीबतें सहते-सहते न थकी। धर्म में उसकी निष्ठा उसे बल प्रदान कर रही थी।

(५)

'पधारिये गुरुदेव ! आज मेरा अहोभाग्य कि आपने पधार कर मेरा घर पवित्र किया। सुभद्रा ने पुलकित नयनों से महात्मा को देख कर कहा।

मुनि ने अपने पात्र नीचे रखे और स्थिर होकर खड़े हो गये।

सुभद्रा ने भावपूर्वक शुद्ध आहार का दान दिया। पर मुनि की आँखों में आँसू देखकर वह अचकचा गई। आश्चर्य सहित सुभद्रा ने अपनी दृष्टि ऊपर की। मुनि की आँखों में कुछ गिर जाने से आँसू निकल रहे हैं, यह जान कर उसने अपने आँचल के छोर से मुनि की आँखें साफ करदीं। सुभद्रा के अन्तःकरण की भावना पवित्र थी। उसमें विकार-ग्रस्त कोई दूसरा भाव न था। परन्तु सुभद्रा की सास तो गिद्ध की तरह उस पर नजर गड़ाये बैठी हुई थी। उसने यह सब कुछ देखा और गरज कर बोली—'बुद्धदास ! अरे इस कुलटा को तो देख बेचारे उस मुनि को भी नहीं छोड़ा। हायरे हाय ! इस दुष्टा ने तो आज मेरे घर को कलंकित कर दिया। भगवन् ! अब किस प्रकार हमारा मुख उज्ज्वल होगा।

बुद्धदास आगबबूला होकर सुभद्रा के निकट पहुँचा और बोला—'कुलटे ! तुझे मुनि से आलिंगन करते हुए भी शर्म नहीं आई ? क्या तेरे पवित्र धर्म में यही बताया गया है ?

कलकिनी! आज तूने मेरे कुल में दाग लगा दिया है—दाग·····? तेरी सुन्दरता तो मुझे ही नहीं मेरे घर वालों को भी ले डूबी है।'

सुभद्रा ने साश्चर्य कहा—'प्राणनाथ! आप यह क्या कह रहे हैं? मैंने तो अपना तन, मन, धन सर्वस्व आप पर ही न्यौछावर किया है। आपके सिवाय ससार में और है ही कौन, जिसे मैं अपना आराध्य समझूँ! नाथ, आप व्यर्थ ही मेरे सत्य धर्म पर कलक का टीका न लगावें।'

बुद्धदास—'हूँ! उस साधु को स्पर्श करके भी निर्दोष बन रही है। कुलटे! तुझे लज्जा नहीं आती!! कलमुँही! चुल्लू भर पानी में डूब कर मर क्यों नहीं जाती?'

सुभद्रा—'नाथ, मैंने मुनिराज की आँखों को साफ करने के लिए, उनकी आँखों में से कचरा निकालने के लिए, उनका स्पर्श किया था। किसी दुर्भावना से मैंने उन्हें नहीं छुआ। प्राणनाथ! मैं निर्दोष हूँ और मुनिराज पवित्र हैं। आप अविश्वास न करें।'

बुद्धदास—'दुष्टा! मैं तेरी चिकनी चुपड़ी बातों पर विश्वास करने वाला नहीं हूँ। तू कुलटा है, कलकिनी है। चल दूर हो जा मेरे सामने से। मैं तेरा मुँह भी देखना नहीं चाहता।'

(६)

स्वर्ण अग्नि में तप कर ही स्वर्ण वन पाता है। फिर उसकी

पूरी कीमत लगती है। सुभद्रा अपने धर्म पर दृढ़ थी। उसकी मुसीबतें अग्नि बन उसे तपा रहीं थीं—और उसका रूप दिन-प्रतिदिन निखर रहा था। फिर, एक दिन ऐसा भी आया—जब वह सोना बन चमक उठी।

आज चम्पापुरी के द्वार नहीं खुल रहे थे। स्वयं महाराज ने अपनी सेना सहित जोर लगाया परन्तु ईश्वरीय शक्ति के सम्मुख मानव का क्या वश चलता है? कोई उपाय सफल नहीं हुआ—द्वार हिलते भी नहीं थे। सब लोग भयभीत हो उठे थे। उसी समय आकाश मार्ग से आती हुई यह वाणी सुनाई दी—'राजन्! व्यर्थ क्यों श्रम करता है? इनको महासती के सिवाय दूसरा कोई नहीं खोल सकता। अगर तेरी नगरी में कोई सती-स्त्री कच्चे सूत से छलनी बांधकर कूए में से पानी निकाले और फिर वह पानी द्वार पर छिड़के तो द्वार खुल सकते हैं, अन्यथा नहीं।'

आकाशवाणी सुनते ही राजा ने अपनी नगरी में ऐलान करवा दिया कि जो कोई सती स्त्री कच्चे सूत से छलनी बांध कर कूए में से पानी निकालेगी और दरवाजे खोलेगी वह महाराज की धर्म-बहिन बनाई जायगी। साथ ही उसे बहुत सा धन भी दिया जायगा।

यश और धन की प्यासी राज महलों से सर्व प्रथम रानियाँ आई और पानी निकालने का प्रयत्न करने लगीं। परन्तु कच्चे

सूत से पानी निकालना तो दूर-किनार छलनी भी नहीं बधती थी। बाँधते-बाँधते ही धागा टूट जाता था। इस तरह क्रमश. सेठ साहूकारों के घराने की स्त्रियाँ भी आई। परन्तु कोई सफल नहीं हुई। सबको अपना मुँह नीचा कर वापिस लौट जाना पड़ा। काम बना नहीं। राज-आज्ञा के ये शब्द सुभद्रा के कानों मे भी पड़े। अपनी निर्दोषिता को प्रकट करने और भ्रम को दूर करने का उसे यह उचित अवसर जान पडा। वह अपनी सास के पास आई और प्रणाम कर बोली—'माताजी! मुझे आशीष दीजिए, जिससे मैं द्वार खोलने में समर्थ हो सकू।'

सास—'तू कलकिनी है! सती साध्वी बनते हुए तुझे शर्म नहीं आती? क्यों मेरे कुल की तू हसी कराना चाहती है?'

सुभद्रा—'यह तो आज मालूम हो जायगा माताजी। अगर अरिहन्त ही मेरे देव रहे हैं तो मैं अवश्य अपने कलक को धोकर साफ कर दूंगी। और साथ ही नगर का कष्ट भी दूर कर आपकी कीर्ति चतुर्दिक फैला दूंगी।

सास—'दुष्टा, अब रहने दे अपनी ये बातें। क्या याद नहीं उस दिन साधु के ·   ··?'

सुभद्रा ने विलम्ब करना ठीक नहीं समझा। उसने अपनी सास के कटु वचनों को भी शुभ-सूचक समझा और वह किले की ओर चली।

भीड़ को चीरती हुई सुभद्रा कुए पर उपस्थित हुई और छलनी बांधकर कहने लगी—'भगवन ! यदि मैंने मनसा वाचा और कर्मणा शुद्ध शील व्रत का पालन किया हो तो यह छलनी पानी से भरी हुई बाहर आ जाय।' यह कह कर उसने ज्योंही छलनी कुए में डाली वह पानी से भरी हुई बाहर निकल आई। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सब लोग टकटकी लगा कर सुभद्रा की तरफ देख रहे थे। उसने जैसे ही नवकार मंत्र का स्मरण कर छलनी का पानी द्वार पर छिड़का वैसे ही दरवाजे खड़खड़ाते हुए खुल पड़े❁। फिर क्या था सती सुभद्रा की जय से गगन गूँज उठा।

सुभद्रा का सत्व चमक उठा। राजा ने अपना वचन पूरा किया और बड़ी सजधज के साथ सुभद्रा को अपने महलों से विदा किया। बुद्धदास और उसकी माता मन ही मन शर्म के मारे दबे जा रहे थे। लेकिन सुभद्रा ने उनका आभार मानते हुए कहा—'माताजी ! यह सब आपकी ही कृपा है।

सास—'बहूरानी ! हमें माफ कर दो और जरा कहो तो—अरिहन्ते शरणं पवज्जामि।'

❁ सुभद्रा ने तीन दरवाजे खोल दिये, पर एक दरवाजा न खोला और वह इसलिये कि भविष्य में भी जब कभी ऐसी विपत्ति आवे तो उसी भी अपने धर्म का महात्म्य प्रकट कर सके। कहते हैं, अब भी चम्पापुरी का वह दरवाजा बन्द है। —लेखक

बुद्धदास ने भी अपनी माता के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा —

'अरिहन्ते शरण पवज्जामि, सिद्धे शरण पवज्जामि।'

बुद्धदास ने भी अपनी माता के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा —

'अरिहन्ते शरण पवज्जामि, सिद्धे शरण पवज्जामि।'

राजा ने अब अपनी बात प्रकट करते हुए कहा—'प्रजाजनों! मैं अपने पुत्र पुष्पचूल का अपनी पुत्री पुष्पचूला के साथ विवाह करना चाहता हूँ। मैं इन भाई-बहिन को पति-पत्नी के रूप में देखना चाहता हूँ। क्या इसमें आप सब सहमत हैं? किसी को कुछ कहना तो नहीं है?'

राजा की अनहोनी बात सुन कर सब के मुँह में ताले लग गये। वे सब एक दूसरे की बगलें झाँकने लगे। इस प्रकार की कोई बात तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोची थी।

पुष्पचूल और पुष्पचूला में बचपन से ही ऐसा स्नेह था कि वे एक दूसरे के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। राजा ने विचारा यदि मैं पुष्पचूला का विवाह किसी दूसरे के साथ कर दूंगा तो दोनों भाई-बहिन की जिन्दगी दुखमय बन जायगी। दोनों का हृदय एक दूसरे के वियोग को सहन नहीं कर सकेगा। अतः उचित है कि इन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया जाय जिससे इनको कभी वियोग का अनुभव ही न करना पड़े। यही विचार उसने आज अपनी प्रजा के सामने रखा।

प्रजा-जन अवाक् थे। उन्हें असमंजस में देख कर राजा ने फिर कहा—'मेरे प्रजाजनों! आप चुप क्यों हैं? आपको मालूम होगा कि पहले जमाने में एक ही साथ पैदा हुए भाई बहिन बड़े होकर पति-पत्नी का रूप धारण करते थे। आपने

जहाँ राजा और प्रजा में शुद्ध प्रेम होता है वहाँ किसी बात का डर नहीं रहता। वे दूध और पानी की तरह मिले-जुले रहते हैं। प्रजा का प्रेम इतना जबरदस्त होता है कि वह अपने राजा के लिये अपने सर्वस्व का बलिदान करने में भी नहीं हिचकिचाती हैं और हँसते-हँसते अपनी जान भी न्यौछावर कर देती है। इसी तरह राजा भी अपनी प्रजा के लिये मर मिटते हैं, पर उसको दुखी देख जी नहीं सकते। पुष्पभद्र नगर के राजा और प्रजा का ऐसा ही सम्बन्ध था। दोनों ही दोनों के लिये मर मिटने की साध रखते थे। राजा ने अपनी प्रजा का भक्ति पूर्ण जवाब सुनकर पूछा—'प्रजा-जनों! पहले यह बताओ कि पुष्पभद्र नगर पर किसका अधिकार है।'

प्रजा ने कहा—'आप राजा हैं, इसलिये पुष्पभद्र नगर की हर चीज पर आपका अधिकार है।'

राजा—'अगर मैं अपनी चीज का उपयोग अपने मनोनुकूल करना चाहूँ तो आपको कुछ ऐतराज तो न होगा।'

प्रजा—'महाराज! आप हमारे न्यायी राजा हैं। आपके राज्य की हर चीज आपकी है। आप अपनी चीज का हर तरह से उपयोग कर सकते हैं। हमें कोई ऐतराज नहीं होगा।'

राजा ने अब अपनी बात प्रकट करते हुए कहा—'प्रजाजनों! मैं अपने पुत्र पुष्पचूल का अपनी पुत्री पुष्पचूला के साथ विवाह करना चाहता हूँ। मैं इन भाई-बहिन को पति-पत्नी के रूप में देखना चाहता हूँ। क्या इसमें आप सब सहमत हैं? किसी को कुछ कहना तो नहीं है?'

राजा की अनहोनी बात सुन कर सब के मुँह में ताले लग गये। वे सब एक दूसरे की बगलें झाँकने लगे। इस प्रकार की कोई बात तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोची थी।

पुष्पचूल और पुष्पचूला में बचपन से ही ऐसा स्नेह था कि वे एक दूसरे के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। राजा ने विचारा यदि मैं पुष्पचूला का विवाह किसी दूसरे के साथ कर दूंगा तो दोनों भाई-बहिन की जिन्दगी दुखमय बन जायगी। दोनों का हृदय एक दूसरे के वियोग को सहन नहीं कर सकेगा। अत उचित है कि इन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया जाय जिससे इनको कभी वियोग का अनुभव ही न करना पड़े। यही विचार उसने आज अपनी प्रजा के सामने रखा।

प्रजा-जन अवाक् थे। उन्हें असमंजस में देख कर राजा ने फिर कहा—'मेरे प्रजाजनों! आप चुप क्यों हैं? आपको मालूम होगा कि पहले जमाने में एक ही साथ पैदा हुए भाई बहिन, बड़े होकर पति-पत्नी का रूप धारण करते थे। आपने

शास्त्रों में भी पढ़ा-सुना होगा कि भगवान् ऋषभदेव के जमाने से पहले युगलियों का यही धर्म था। तदनुकूल मैं भी अपने पुत्र-पुत्री का सम्बन्ध आपस में कर दूं तो यह कुछ अनहोनी बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि आप मेरे विचार से सहमत होंगे।'

प्रजा-जन फिर भी चुप थे, लेकिन बिना कुछ कहे छुटकारा नहीं था। वे अपने राजा को नाराज करना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—'पुत्र और पुत्री आपकी हैं। आप जैसा चाहें, करें। हमको कोई उज्र नहीं है।'

सभा समाप्त हुई। राजा प्रसन्न-मुख अपने राजमहलों में आ बैठा।

(२)

'प्राणनाथ! यह क्या कर रहे हैं आप? कहीं भाई बहिन भी आपस में विवाह करते हैं? आपका यह कार्य सरासर धर्म के विरुद्ध होगा। जो कोई भी यह सुनेगा, अच्छा नहीं कहेगा। मेरी बात मानिये और इस विचार को अपने दिल से दूर कर दीजिये।' रानी ने पुष्पकेतु से निवेदन किया।

मगर पुष्पकेतु क्यों मानने लगा। अब तो उसे अपनी प्रजा का समर्थन भी प्राप्त हो चुका था—फिर, वह था एक राजा, जो स्वभावत' ही हठी प्रसिद्ध हैं। और उसने अपनी रानी की बात की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने दोनों का

परस्पर विवाह कर दिया। अब पुष्पचूल और पुष्पचूला भाई बहिन न रहकर पति-पत्नी बना दिये गये।

(३)

सुहागरात"""! पति-पत्नी का प्रथम मिलन मानव-जीवन की मधुर स्मृति होती है। यह गृहस्थ जीवन की प्रथम सीढ़ी है, जहाँ खड़ा होकर मनुष्य अपनी सुनहली दुनिया को प्रथम बार पुलकित नयनों से निहारता है। आगे का जीवन चाहे कितना ही भी मलीन हो; लेकिन यह सन्देह-रहित है कि सुहागरात की मधुर घड़ियाँ सदा आनन्द-पूर्ण ही होती हैं।

पुष्पचूल और पुष्पचूला की—पति-पत्नी के रूप में आज प्रथम रात थी। पुष्पचूला अपने भाई के इन्तजार में बैठी थी। पुष्पचूल आया और बोला—'बहिन! और तत्क्षण कुछ सकुचाते हुए उसने कहा—प्रिये""!

पुष्पचूला—'भाई, यह क्या कह रहे हो?

'अरे, अब हम भाई बहिन कहाँ रहे हैं, जो तुम मुझे भाई कह रही हो। अब तो हम पति-पत्नी हो गये हैं—पति-पत्नी!' पुष्पचूल ने मधुर हास्य करते हुए कहा।

पुष्पचूला—'तो क्या हुआ भाई, इससे क्या तुम मेरे भाई न रहे और मैं तुम्हारी बहिन न रही?

पुष्पचूल—'तू पगली तो नहीं हो गई है पुष्पचूला। कहीं विवाह करने पर भी कोई भाई बहिन रहता है?

पुष्पचूला—'विवाह का अर्थ यही तो हुआ कि कल मैंने अपना हृदय भाई को अर्पण किया और भाई ने अपना हृदय वहिन को। यही हमारा विवाह था। इससे बढ़कर और विवाह क्या हो सकता है भाई ?'

पुष्पचूल—'अरे, यह तुम क्या कह रही हो पुष्पचूला ?'

पुष्पचूला—'मैं ठीक कह रही हूँ भाई। भले ही दुनियाँ हमको पति-पत्नी समझे, पर हम तो भाई वहिन हैं और अन्त तक रहेंगे भी वही। भाई, अधीर होने की वात नहीं है। तनिक विचारो तो सही कि भाई रहते हुए भी मुझको अपना हृदय तो किसी को देना ही पड़ता, वह मैंने किसी दूसरे को न देकर तुम्हीं को अर्पण कर दिया, तो क्या अब केवल शरीर सुख के लिये ही अपने भाई वहिन के पवित्र सम्बन्ध को हम तोड़ दें ?'

पुष्पचूल की उमगें पानी की तरह वह गई। सुहागरात की मधुर कल्पना कपूर की तरह हवा मे उड़ गई। वह रात पति-पत्नी की रात न वन सकी। भाई वहिन का अपूर्व स्नेह ज्यों का त्यों कायम रहा। पति पत्नी होकर भी भाई वहिन की जिन्दगी में विकार न आ सका। लेकिन ससार कव किसकी छान-वीन करता है। वह तो जैसा सुनता है वैसा ही कुछ नमक मिर्च लगाकर सफाई के साथ पेश कर देता है।

पुष्पचूल और पुष्पचूला भाई बहिन होते हुए भी संसार में पति-पत्नी ही कहाये।

(४)

दिन बीते, मास बीते और साल बीते। पुष्पचूल और पुष्पचूला के माता पिता इस संसार से कूच कर गये। भाई राजा बना और बहिन रानी। दोनों का जीवन दोनों का प्रेम पूर्ववत् ही निर्दोष था। परन्तु फिर भी पुष्पचूला का मन वैराग्य के साँचे में ढलता हुआ चला जा रहा था।

घुन लगे हुए पेड़ के लिये हवा का एक झौंका ही पर्याप्त होता है। पुष्पचूला के मन में भी वैराग्य का घुन लग चुका था। उसने धीरे-धीरे दुनियादारी की नींव खोखली करदी। अब उसका मन राजमहलों में रहना नहीं चाहता था। वह छुटकारे का कोई उपाय सोचने लगी।

मनुष्य की भक्ति और भावना अगर मजबूत होती है तो तदनुकूल संयोग मिलते भी फिर देरी नहीं लगती। आत्म-भावना की दृढ़ता के सामने तदनुकूल वातावरण उसी तरह अपने आप खिंचा चला आता है, जिस तरह चुम्बक के साथ लोहा। पुष्पचूला की वैराग्य भावना तीव्रतर होती गई। फलस्वरूप उसे एक दिन अपने मनोनुकूल आचार्य अन्निकापुत्र का उपदेश सुनने को मिला। जो विचार-धारा आज तक किसी का संयोग न पाकर बन्द पड़ी थी आज वह अन्निकापुत्र का

वेग पाकर वह निकली। पुष्पचूला अपने भाई के समीप गई और बोली—'भाई! अब मेरा मन दीक्षा लेने को हो रहा है। अगर आप आज्ञा दें तो मैं दीक्षा ग्रहण कर अपना जीवन सफल करूँ।'

'बहिन, आज तक हम एक दूसरे से जुदा नहीं रहे हैं। ऐसी दशा में मैं तुम्हारा वियोग कैसे सहन कर सकूँगा। हाँ, अगर तुम दीक्षा लेकर भी यहीं रहो तो मैं तुम्हें खुशी-खुशी दीक्षा लेने की अनुमति दे सकता हूँ।' इतना कह कर पुष्पचूल चुप हो गया।

पुष्पचूला आचार्य के समक्ष उपस्थित हुई और अपने भाई की बात कह सुनाई। आचार्य वृद्ध थे। उन्हें भी कहीं न कहीं स्थिर होना ही था। उन्होंने यहाँ रहने की स्वीकृति पुष्पचूला को दे दी।

(५)

घर—गृहस्थी छोड़कर साधु बन जाना आसान काम नहीं है, कुछ विरले स्त्री पुरुष ही इस पथ के पथिक बनते हैं। साधु वृत्ति ले लेना उतना कठिन काम नहीं है जितना कि उसे निभाना। आज दुनियाँ में साधुओं की कमी नहीं है, पर कमी है साधु-धर्म के पालने वालों की।

राजमहलों में रहनेवाली पुष्पचूला, साध्वी बनकर अब निर्दोष उपाश्रय में रहने लगी। तरह-तरह की चीजों को

खाने वाली पुष्पचूला अब नियमित प्रासुक आहार कर अपना पोषण करने लगी। फूल-सी सलौनी शैया पर शयन करने वाली कोमलांगी, अब जमीन पर सूखा घास-फूँस बिछाकर सोने लगी। कितना कठिन मार्ग है साधुवृत्ति का ? फिर एक राजकुमारी के लिये ... ?

पर बिना तपाये सोना भी स्वर्ण नहीं बनता है। मनुष्य को भी संयम की आग में जल-जल कर साफ होना पड़ता है। तभी वह स्वर्ण की तरह अपना निजी स्वरूप धारण कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसमें का सन्देह नहीं कि मानव जीवन को पवित्र बनाकर आत्मा को परमात्मा बनाने वाली दुनियाँ में कोई मशीन है तो वह है श्रमण धर्म-संन्यास।

सती पुष्पचूला ने सन्यास को अपने जीवन में इस तरह उतारा कि दोनों घुल-मिल कर एक हो गये। जैसा स्नेह पुष्पचूला का अपने भाई पर था, वैसा ही स्नेह उसने अपनी गुरु भक्ति और आत्म-चिन्तन से सम्पूर्ण चराचर के साथ स्थापित कर लिया। उसके इसी निर्मल स्नेह और भाव-पूर्ण भक्ति ने उसके घट में दिव्य ज्ञान की महान् ज्योति उत्पन्न करदी।

केवल ज्ञान हो जाने पर भी उसने गुरु सेवा* में किंचित् मात्र भी न्यूनता न आने दी। आचार्य यह नहीं जान सके कि

---

* गुरु सेवा से मतलब ऐसे कामों से है जिनको करने में शरीर स्पर्श न होता हो। जैसे कि आहार-पानी लाना आदि।

शिष्या अब शिष्या न रहकर कुछ और बन गई है। लेकिन वास्तविकता कब तक छिपी रह सकती थी। एक दिन सहज ही प्रकट हो गई। पुष्पचूला कार्यवश बाहिर गई थी। बरसात हो जाने से सर्वत्र पानी ही पानी नजर आ रहा था। पुष्पचूला के लौट आने पर आचार्य ने कहा—'तुम पानी मे बाहिर गई सो अच्छा नहीं किया पुष्पचूला।'

पुष्पाचूला ने सविनय उत्तर दिया—'महाराज, मैं अचित पानी पर ही पैर देकर गई थी।'

'यह कैसे जाना?' आचार्य ने सम्भ्रान्त होकर पूछा।

'आपकी कृपा से।' नतमस्तक हो पुष्पचूला ने कहा।

तत्क्षण आचार्य ने क्षमा मांगी और पुप्पचूला को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया।

अब क्या था? पुष्पचूला के केवल ज्ञान की बात वायु के समान सर्वत्र फैल गई। नगर निवासियों के साथ पुष्पचूल राजा अपनी बहिन को वन्दन करने आ रहा था। चारों तरफ केवल एक ही आवाज सुनाई दे रही थी और वह थी—

"सती पुष्पचूला की जय"

शिवा

उसका नाम था शिवा और सचमुच थी भी शिवा-कल्याणमयी ही।

शिवा चेटक राजा की पुत्री और उज्जैन के राजा चण्ड प्रद्योतन की पटरानी थी। वह जैसी सुन्दर थी वैसी ही गुणों से भी सम्पन्न थी। राजा रानी की सलाह लिए बिना कोई काम नहीं करता था। राजा का मंत्री था भूदेव। दोनों में परस्पर गहरा प्रेम था। न कभी राजा भूदेव से अलग रहना पसंद करता और न कभी भूदेव राजा को छोड़ता। राजा का भूदेव पर पूर्ण विश्वास था। उसको अन्तःपुर में भी जाने की कोई रोक-टोक नहीं थी। वह सब जगह निस्संकोच आ जा सकता था। उस पर राजा की इतनी कृपा देखकर शिवा भी जब कभी वह अन्तःपुर में आता, उसका भाई की तरह सत्कार करती थी। लेकिन भूदेव मनका मैला निकला। शिवा का रूप उसके नेत्रों में बस चुका था। वह अपनी अधम प्यास

को बुझाने के लिए अब अन्त पुर में अधिक आने जाने लगा और शिवादेवी को अपने चगुल में फँसाने का उपाय सोचने लगा।

शिवा तन से पवित्र और मन से भी पवित्र थी। भूदेव को वह अपने भाई के समान प्रेम करती थी। वह उसका स्वागत करती और प्रेम पूर्वक बात-चीत भी। लेकिन भूदेव की विलासी आँखें उस स्वच्छ प्रेम को नहीं पहचान सकीं। उसकी नजरों मे तो वह शुद्ध सात्विक प्रेम भी बिगड़ कर वासना बन चुका था। उसने रानी की प्रधान दासी को अपने वश मे किया और उसके द्वारा अपनी मनोकामनायें शिवा के कानों तक पहुँचाई। लेकिन फिर भी अतृप्त भूदेव प्यासा ही बना रहा। बेचारी दासी का हाल बेहाल हुआ। भूदेव दूसरा उपाय सोचने लगा।

(२)

एक दिन राजा को नगर से बाहर जाना पड़ा। उसने भूदेव को भी अपने साथ चलने को कहा। लेकिन भूदेव बीमारी का बहाना कर साथ नहीं गया। राजा को जाना जरूरी था। भूदेव राजा को विदा कर सीधा अन्त पुर में आया। शिवा अकेली बैठी हुई थी। भूदेव ने अच्छा अवसर देखा। वह उसके पास बैठकर अपनी मलिन भावना व्यक्त करने लगा और तरह-तरह के प्रलोभन देते हुए प्रतिज्ञाएँ करने लगा।

शिवा देवी मौन रही। मूदेव ने साहस कर आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया। मगर तभी मूदेव ने रानी की आँखों में देखा—तेज-सम्पन्न उसकी आँखें अँगारे के समान जल रही थीं—और मूदेव के नेत्र झुक गये। तभी, रानी अपना हाथ छुड़ाकर बाहिर निकल आई। मूदेव ने उसे रोकना चाहा, पर वह सफल न हुआ। उसे उलटे पैरों अपने घर लौट जाना पड़ा।

घर आने पर मूदेव अपने कार्य पर मन ही मन बहुत पछताने लगा। राजा के भय से वह बीमार हो गया।

(३)

बाहर से आते ही राजा ने मूदेव को बुलाया। लेकिन मूदेव ने बीमारी की वजह से आने में असमर्थता प्रकट की। राजा को मूदेव के बिना चैन कहाँ था? वह स्वयं अपनी रानी शिवादेवी को साथ ले मूदेव के घर आया। उसको देखकर मंत्री की हालत और भी अधिक खराब हो गई। भय के मारे उसका शरीर काँप रहा था।

राजा मूदेव को अपने साथ महलों में लाये और वहीं उपचार कराने लगे। रानी शिवादेवी उसकी सेवा करने लगी। और एक दिन उसने मूदेव से पूछा—'अब अच्छी तरह तो हो गये?'

मगर भूदेव के मुँह पर तो ताले लगे थे। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा वह निकली और वह अपनी अश्रुधारा को पोंछने का प्रयत्न करने लगा। रानी ने अपने हाथ से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—'भाई! मनुष्य से भूल हो जाना स्वाभाविक है। लेकिन जो अपनी भूल को, भूल समझ लेता है और पश्चात्ताप करने लगता है, वह फिर पवित्र हो जाता है। तुम घबराओ नहीं। मैंने तुम्हारी उस भूल को किसी से भी नहीं कहा है। लेकिन फिर कभी ऐसी भूल न करना। पर स्त्री को अपनी माँ-बहिन समझना। मैं तुम्हारी बहिन हूँ। बहिन का फर्ज है कि भाई अगर गुमराह हो जाय तो वह उसे अँगुली पकड़ कर मार्ग दिखावे, और बहिन कभी अन्धकार में जाये तो भाई उसे प्रकाश में लावे।'

इधर रानी की बात समाप्त हुई, उधर भूदेव की बीमारी हवा में उड़ गई। वह अपने पलग पर से उठा और शिवा देवी के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगा।

रानी ने उसे उठाते हुए कहा—'भाई, अभी कुछ आराम करो। शीघ्र ही तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक हो जायगी।'

(४

आग-आग-आग! चारों तरफ प्रजा में हाहाकार मच गया। समूचा नगर धाँय-धाँय कर जल रहा था। राजा ने कई उपाय किये, पर आग न बुझ सकी। वह बढ़ती ही चली गई।

तब शिवा देवी अपने महल पर चढ़ी और हाथ में जल लेकर बोली—"देव ! अगर मैं तन, मन से पवित्र हूँ और मेरा शील धर्म निर्मल है तो यह आग पानी क छींटे लगते ही शान्त हो जाय। यह कह कर उसने ज्योंही चारों तरफ अपने हाथ से पानी के छींटे डाले, आग बिल्कुल शान्त हो गई। प्रजा में सर्वत्र खुशी की लहर छा गई। सबने कहा—"सती शिवा देवी की जय !"

पद्मावती

'देखो तो, तुम्हारा शरीर कैसा दुबला होता जा रहा है ! मालूम नहीं आजकल तुम, किस चिन्ता में डूबी रहती हो । कुछ कष्ट तो नहीं, आखिर तुम्हें तकलीफ क्या है ?' राजा दधिवाहन ने अपनी रानी से पूछा ।

रानी ने कृत्रिम हँसी हँसते हुए उत्तर दिया—'कुछ तो नहीं महाराज !'

'नहीं, तुम झूठ कहती हो पद्मावती । तुम्हारे मुख पर चिन्ता के चिह्न स्पष्ट दीख पड़ते हैं । फिर कैसे मानूँ कि नहीं ।'

स्त्रियाँ अक्सर स्त्री-सुलभ लज्जा के कारण अपनी बात छिपाये रखती हैं, लेकिन वह तभी तक, जब तक कि उन्हें पति की सहानुभूति न मिल जाय । रानी राजा के सत्याग्रह को टाल न सकी । उसने कहा—'महाराज, दुःख तो मुझे नाम लेने को भी नहीं है, लेकिन कुछ दिनों से मेरी यह इच्छा हो रही है कि मैं राजा की पोशाक पहनकर हाथी की सवारी

करूँ और आपके साथ वन-क्रीड़ा करने जाऊँ।' बस इसी विचार से मैं कुछ चिन्तित-सी रहती हूँ।'

पद्मावती गर्भवती थी। उसकी इच्छा उसके गर्भस्थ बालक की इच्छा थी। राजा ने प्रसन्न होकर कहा—'यह कौनसी बड़ी बात है, जो तुम चिन्ता करती हो? यह तो बहादुर बालक की माता बनने का चिह्न है। जाओ जल्दी सज धज कर तैयार हो जाओ। मैं अभी सवारी निकालने का हुक्म देता हूँ।'

पद्मावती प्रसन्न होती हुई अपने महलों में चली गई।

(२)

शहर सजाया गया। नर-नारियों के झुण्ड उत्सुकता से रानी की सवारी देखने के लिये यहाँ-वहाँ इकट्ठे होने लगे। सवारी निकली। राजा और रानी एक-सी पोशाक पहन हुए बैठे थे। हाथी अपनी मस्तानी चाल से चलता हुआ नगर के बाहर आया और वन में प्रवेश करने लगा। वायु कुछ ठण्डी थी मगर आसमान साफ था। चारों तरफ चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई पड़ रही थी। अचानक आसमान ने अपना रंग पलटा। हवा तेज हुई और आँधी बनकर बहने लगी। पेड़ से पेड़ टकराने लगे। हाथी की सोई हुई स्वतन्त्रता जागी। उसको अपना स्वच्छन्द विहार और वनस्थल याद हो आया। फिर क्या था? पशु ही तो ठहरा। मदमस्त हो भागने लगा।

महावत पेड़ से टकराकर नीचे गिर पड़ा। राजा और रानी ही शेष रहे। भयंकर वन था। हाथी वृक्षों को चीरता-फाड़ता दौड़ा जा रहा था। राजा और रानी का दिल दहल उठा। जंगल की भयंकरता और हिंसक प्राणियों की नृशंसता से उनका दिल काँप उठा। राजा ने हाथी को वश में करने के कई उपाय किये, पर कोई भी उपाय उनका साथ न दे सका। लाचार हो राजा ने रानी से कहा। हाथी से छुटकारा पाने का अब केवल एक उपाय है, और वह यह कि जब हाथी किसी वृक्ष के नीचे से निकले, हम उस वृक्ष शाखा को पकड़ लें। हाथी दौड़ता हुआ आगे निकल जायगा, तब हम नीचे उतर जायँगे। रानी के दिल में भी यह बात जँच गई। लेकिन राजा ने पुनः रानी से कहा—'देखो भूलना नहीं। शाखा को बराबर पकड़ लेना। यह न हो कि वह तुम्हारे हाथ से छूट जाय।'

हाथी वृक्ष के नीचे आया राजा और रानी ने अपने २ हाथ लम्बे किए। राजा ने तो शाखा पकड़ ली, पर रानी के हाथ से वह छूट गई। राजा पेड़ पर लटक गया और रानी हाथी पर बैठी आगे निकल गई। हाथी उसी चाल से भागा जा रहा था। रानी का भय भी बढ़ गया। राजा और रानी एक दूसरे की आँखों से ओझल हो गए।

(३)

सामने एक तालाब था। हाथी दौड़ते-दौड़ते थक गया था।

प्यास उसे बड़े जोर की लगी थी। वह तालाब के किनारे आया और रुक कर पानी पीने लगा। रानी ने उस पागल हाथी से छुटकारा पाने का यह अच्छा अवसर देखा। वह अपने सिर के ऊपर लटकती डाली पकड़ पेड़ पर चढ़ गई। हाथी पानी पीकर पुनः उसी चाल से भागता हुआ आगे चला गया। रानी ने पेड़ से उतर कर अपने कपड़े बदले। सोचा-अब कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? यहाँ कौन मुझे पहिचानता है? भयभीत हो वह एक पगडंडी पर चलती हुई अपने भाग्य को कोसने लगी।

राजमहलों में रहने वाली रानी पद्मावती जंगल के नुकीले पत्थरों पर अपने पाँव तेजी से बढ़ा रही थी। जिसने कभी दुःख का अनुभव ही नहीं किया था वही पद्मावती आज जंगलों में निराधार हो चली जा रही थी। सच है, कर्मों के आगे किसी का वश नहीं चलता। राजा, बादशाहों का हुक्म टाला जा सकता है, पर कर्मों का 'वारन्ट' नहीं रोका जा सकता। वह जो कुछ दिखायें थोड़ा ही है।

पद्मावती ने चलते-चलते एक आश्रम देखा। क्षुधा-पीड़ित पुरुष की भाँति पद्मावती उसे देख कर पुलकित हो उठी।

(४)

'बहिन, आप कौन हैं और कहाँ से आई है?' एक तापस ने पद्मावती से पूछा।

पद्मावती ने सारी बात कह सुनाई। तापस ने कहा—'आप रानी हैं तो आपको ढूढ़ने के लिये भी कई आदमी निकले होंगे। यहाँ रहने से आपका पता नहीं लग सकेगा। फिर हम तपस्वी हैं। आपका हमारे आश्रम में रहना भी ठीक नहीं है, इसलिये आप यहाँ से कुछ और आगे जाइये। कष्ट तो आपको जरूर होगा, लेकिन कुछ ही दूर जाने पर एक शहर आ जायगा। वहाँ पहुँचने पर आपको अपने राजा की खबर मिल सकेगी।'

थकी हुई रानी ने शहर का रास्ता लिया, और धीरे-धीरे चल कर शहर में आ पहुंची। रानी के सामने एक मकान था उसमें चहल-पहल न होते देख वह उसमें चली गई। भीतर साध्वियाँ अपना स्वाध्याय कर रही थी। उन्होंने अपरिचित रानी को देख कर पूछा—'बहिन तुम कौन हो और कहाँ से आई हो।'

रानी ने रुँधे कठ से अपना हाल कह सुनाया। दुख से पीड़ित पद्मावती को साध्वियों ने ससार की असारता को समझाया और उससे मुक्त होने का मार्ग दिखाया।

जो असर वैद्य के जमालगोटे का कब्ज के रोगी पर होता है, वही प्रभाव साध्वियों के वचनों का पद्मावती पर हुआ। फिर क्या था? चतुर्विध सघ की सलाह से पद्मावती को दीक्षा दे दी गई। पद्मावती अब नियमित जप-तप करती हुई आत्म शुद्धि करने लगी। उसने अपने गर्भ की बात किसी से

नहीं कही थी। लेकिन यह बात छिपने की नहीं थी। वह स्वयं प्रकट हो गई। साध्वियों ने कहा—'पद्मावती, यह क्या हाल है? अगर ऐसी बात थी तो तुम्हें दीक्षा नहीं लेनी चाहिए थी। तुमने हमें तो कहा भी नहीं कि मैं गर्भवती हूँ। अन्यथा हम तुम्हें दीक्षा न देतीं। साध्वी अवस्था में बालक की माता बनना और धर्मस्थान में बच्चा जनना, जिन-शासन में शोभा नहीं देता और यह भी उचित नहीं कि तुम अपना वेष छोड़कर संसार में चली जाओ। दोनों में ही धर्म की बदनामी है। भ्रूण हत्या करना तो भयंकर पाप है। फिर तुम तो बिलकुल निर्दोष हो। पर अब किया जाय? सब मिलकर विचार करने लगी।

(५)

पद्मावती ने फूल से कोमल बालक को जन्म दिया। कुछ दिनों बाद साध्वियों ने पद्मावती से कहा—'अब तुम इसे किसी सुरक्षित स्थान पर रख आओ जिससे न बालक का अहित हो और न धर्म की ही निन्दा हो।

आज बड़े सवेरे पद्मावती अपने बालक को ले श्मशान में पहुँची और जमीन पर रख कर लौट पड़ी। लेकिन मातृत्व की ममता उससे दूर न हो सकी। पशु-पक्षी भी अपना पेट जाया बच्चा दूर करते समय दुःखानुभव करता है, तब यह तो मानवी

थी '? उसका मातृ-हृदय प्रेम से भर आया। वह पेड़ की आड मे छुप कर सलौने लाल को देखती रही।

सुबह होते ही श्मशान रक्षक चाण्डाल आया। उसने भूमि पर खेलते हुए उस सुन्दर वालक को देखा। पुत्र प्रेम का प्यासा चाण्डाल उसे अपना ही वालक समझ कर अपने घर ले चला। पद्मावती भी उसके पीछे २ चलदी और उसका घर देख कर धर्म-स्थान पर लौट आई। जव-जव मातृत्व की भावना प्रवल रूप मे उमड़ती, जो दवाने पर भी न दवती, तो वह जाकर अपने पुत्र का मुँह देख आती और मातृ-प्रेम के उवाल को शान्त कर लेती थी।

(६)

दिन गुजरते क्या देर लगती है ? वालक चाण्डाल के यहाँ वढ़ने लगा। वह दिन भर अपने शरीर को खुजलाया करता था, इसलिये चाण्डाल ने उसका नाम भी करकडू रखा। समय के फेर से राजमहलों में रहने वाला करकडू चाण्डाल के यहाँ रहने लगा, और वड़ा होकर वह भी श्मशान की रखवाली करने लगा।

एक दिन की वात है, करकँडू एक ब्राह्मण से लड़ पड़ा। दोनों की वात राजा के पास पहुंची। राजा ने दोनों को वुलाया और अपना-अपना हाल पूछा। राजा था दधिवाहन और पुत्र था करकडू। पर यह कौन जानता था कि दोनों का सम्वन्ध पिता पुत्र का है ?

सिंह का बच्चा भी सिंह के समान ही होता है। करकंडू ने गरज कर कहा—'महाराज ! मैं श्मशान भूमि का रक्षक हूँ। इसलिए वहाँ की हर एक चीज मेरी है। अगर कल से मैं राजा हो जाऊँ और कोई मेरी चीज मुझसे बिना पूछे उठाले जाय तो मैं उसे कैसे सहन कर सकूँगा ?

राजा हँसा और बोला—'करकंडू, जब तू राजा बने तब इस ब्राह्मण को एक गाँव इनाम में दे देना जिससे इसे किसी की कोई चीज बिना पूछे न उठानी पड़े।' राजा की बात सुन कर दोनों हँसते-हँसते वहाँ से चल पड़े।

कुछ दिनों बाद करकंडू का भाग्य चमका। वह एक दिन कँचनपुर की तरफ जा रहा था। उसी दिन वहाँ के राजा की मृत्यु हो गई। उसके न पुत्र था न कोई उत्तराधिकारी ही। अब राजा कौन हो यह चिन्ता सबको सताने लगी। बड़ी बहस के बाद मंत्री ने कहा—'राजा का प्रधान हस्ति जिसके गले में हार डाल देगा उसे ही राजा मान लिया जायगा।' बात सबको जँच गई। हाथी सारे नगर में फिराया जाने लगा। करकंडू ने ज्यों ही कंचनपुर में प्रवेश किया हाथी ने उसके गले में हार डाल दिया। नियमानुसार करकंडू को राज्य का स्वामी बना दिया गया चाण्डाल-पुत्र करकंडू अब राजपुत्र कहलाने लगा और राज-काज करने लगा। ब्राह्मण

आया और बोला—'महाराज ? मुझे आपने एक गॉव इ
में देने को कहा था न ?'

करकण्डू—'कब ?'

ब्राह्मण—'महाराज दधिवाहन के दरबार में। जब श
और मैं ?'

करकण्डू ने बीच मे ही हॅसते हुए कहा—'यह कोई द
वाहन का दरबार थोड़े ही है। तुम दधिवाहन के दरबार
जाओ और कहो, वे ही तुम्हें अपना गॉव देंगे।'

ब्राह्मण दधिवाहन राजा के पास पहुँचा और अपना ग
मॉगा। दधिवाहन ने गुस्से में आकर ब्राह्मण से कहा—'व
वह चाण्डाल पुत्र मेरा मजाक करता है ? जाओ उससे क
कि महाराज दधिवाहन तुझको मारकर ब्राह्मण को वह ग
इनाम में देंगे।'

महाराज दधिवाहन अपनी सेना के साथ सजधज क
युद्ध के लिये रवाना हो गये। उधर से करकण्डू भी अप
फौज लेकर मैदान में आ डटा।

'महाराज, एक स्त्री आपसे मिलने की आज्ञा चाहती है
करकण्डू के एक सिपाही ने निवेदन किया।

करकण्डू—'कौन है ? जाओ जल्दी उसे ले आओ
पद्मावती आई, और बोली—'वत्स ?'

करकंडु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने कहा—'आप क्या कहना चाहती हैं ?'

पद्मावती—'करकंडु, मैं तुम्हारी माता हूँ और महाराज दधिवाहन तुम्हारे पिता हैं। पुत्र का अपने पिता से निष्कारण युद्ध करना शायज नहीं है। यही मैं तुम से कहने आई हूँ।'

करकंडु—'क्या सच कहती हो ? महाराज दधिवाहन मेरे पिता और आप मेरी माँ हैं ?

पद्मावती—'बिल्कुल सच है पुत्र। जैन साध्वियाँ कभी झूठ नहीं बोलतीं। तुम विश्वास करो करकंडु।'

करकंडु—पद्मावती के चरणों में गिर पड़ा और बोला—'माँ, आपने बड़ा उपकार किया जो मुझे इस पाप से बचा लिया। अन्यथा पिता से लड़कर मेरी क्या दुर्गति होती ?

(८)

'कौन पद्मावती ? इस वेष में ? इतने दिनों तक कहाँ रहीं ? राजा दधिवाहन ने आश्चर्य से पद्मावती को देखकर कहा।

पद्मावती ने कहा—'महाराज इन बातों से पहले मैं आप को एक बात बताने के लिए यहाँ आई हूँ। क्या आप विश्वास करेंगे ?

राजा—'कहो क्या बात है पद्मावती ?

'महाराज करकंडु चाण्डाल का पुत्र नहीं आपका पुत्र है ?'

'यह क्या कह रही हो पद्मावती ?'

'हाँ, महाराज ! यह सत्य है।'

'सच ?'

'बिल्कुल सच।'

फिर क्या था ? पिता ने अपना खोया पुत्र पाया और पुत्र ने अपना पिता। दोनों प्रसन्न चित्त हो एक दूसरे से मिलने चले। पुत्र-प्रेम और पितृ-प्रेम से दोनों का हृदय छलछला आया। दोनों मिले और प्रेम-पूर्वक मिले। बरसों से खोई हुई निधि को पाकर दधिवाहन फूला नहीं समाया। बड़ा अजीब तमाशा हो गया। जो दल अभी-अभी युद्ध करने को तत्पर हो रहा था, खुशी-खुशी वह अपने युवराज के साथ वापिस लौट पड़ा।

पद्मावती ने अपना रास्ता लिया। महाराज दधिवाहन ने बहुत कहा कि वह अब यहीं रहें, परन्तु वह यह कहती हुई कि पानी और साधु तो चलते-फिरते और बहते हुए ही अच्छे लगते हैं, वहाँ से चली गई। रुकी नहीं। पति और पुत्र ने खिन्न मन से उसे विदा दी। लेकिन अन्तरिक्ष से कोई कह रहा था—

"सती पद्मावती की जय"

दमयन्ती

'आप कलिंग देश के अधिपति हैं, देवी।' दासी ने राजकन्या से कहा। लेकिन राजकुमारी उनके मुख पर अपनी एक नजर डालती हुई आगे बढ़ गई।

दमयन्ती के स्वयम्वर के कारण राज-सभा में बड़ी चहल-पहल थी। देश-देश के राजा महाराजा वहाँ आये हुए थे। विदर्भ के राजा भीम की राजकन्या दमयन्ती अपने हाथों में वरमाला लेकर स्वयम्वर में घूम रही थी। दासी ने आगे बढ़ते हुए कहा—'राजकुमारी ये मगध देश के महाराजा हैं—अपनी वीरता के लिये बहुत अधिक प्रसिद्ध।' दमयन्ती ने उनकी ओर देखा। उसके अधरों पर सजीली मुस्कान देख कर मगध नरेश का सीना फूल उठा। पर दूसरे ही क्षण दमयन्ती वहाँ से भी आगे बढ़ गई। इस प्रकार वह क्रमशः बंग मगध कच्छ द्रविड़, सौराष्ट्र आदि देशों के अनेक महाराजाओं के सम्मुख होती हुई बराबर आगे बढ़ती गई।

आगे अयोध्या नरेश निषध के ज्येष्ठ पुत्र नल बैठे हुए थे। दमयन्ती उनके पास आकर खड़ी हो गई। दासी ने परिचय दिया और दमयन्ती ने एक बार उनकी ओर देखा। तेज सम्पन्न नल का मुख दमदम कर दमक रहा था। कान्ति-युक्त उनके शरीर की शोभा अद्वितीय थी। दमयन्ती के नयन झुके और उसने अपनी वरमाला नल के गले में डालदी। अन्य राजा-गण देखते ही रह गये। जिस वरमाला के लिये अनेकों राजा महाराजा आश लगाये बैठे हुए थे वह अब नल के गले में पड़कर उनकी बन चुकी थी। और विदर्भ-नरेश भीम ने अपनी पुत्री दमयन्ती का विवाह विधिवत् नल के साथ कर दिया।

नल दमयन्ती के साथ अयोध्या लौटे। महाराजा निषध ने इस खुशी में एक महोत्सव किया और अपना सारा भार नल को सौंप कर सन्यास अंगीकार कर लिया।

नल राजा बना और न्याय-पूर्वक राज्य करने लगा। जिससे कुछ ही दिनों में उसकी कीर्ति चारों ओर फैली। दमयन्ती का स्वभाव भी बहुत ही नम्र और स्नेह-पूरित था। राजधानी के स्त्री-समाज में उसका मान बराबर ऊँचा उठता जा रहा था। महाराज नल के राज्य में प्रजा बहुत सुखी और सानन्द थी—और अपने महाराज और अपनी महारानी को बहुत ही आदर की दृष्टि से देखती थी।

संसार में यह क्षुद्र नियम-सा हो गया है कि किसी की प्रतिष्ठा को वह सहन नहीं कर पाता। प्रतिष्ठा-प्राप्त उस व्यक्ति का वह शीघ्र ही दुश्मन बन जाता है और यही राजा नल के साथ भी हुआ। नल का एक छोटा भाई था—कुबेर। न जाने क्यों कुबेर को अपने भाई का यह सम्मान रुचिकर न हुआ—और वह रात-दिन इसी विचार में निमग्न रहने लगा कि किसी भी तरह राजा नल से अयोध्या का राज्य छीन लिया जाय और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी जाय। कुबेर जुआ खेलने में बहुत निपुण था। एक दिन उसने सोचा—नल को जुआ खेलने का तो शौक है ही फिर क्यों नहीं उसे इस जाल में फँसाकर दर दर का भिखारी बना दिया जाय?

और यही हुआ भी। अपने छोटे भाई कुबेर के आमन्त्रण पर एक दिन नल उसके साथ जुआ खेलने बैठे—पासे फिंकने लगे। खेल ही खेल में खेल बढ़ता चला गया। और इस खेल का अन्त फिर उस समय हुआ, जब महाराज नल अपना राज्य दाव पर लगा बैठे और हार गये।

कुबेर यही निश्चय कर खेल खेलने बैठा था और अपनी कुशलतापूर्ण चतुराई के द्वारा उसने उसे पूरा किया। नल अब भिखारी थे और कुबेर उनके राज्य का स्वामी था।

जुये में सर्वस्व गवाँ बैठने वाले नल ने वन का मार्ग लिया

तो सहधर्मिणी दमयन्ती उनके साथ चलने के लिये उद्यत हुई।

नल ने दमयन्ती को बहुत समझाया, वह उसके साथ न चले, लेकिन दमयन्ती किसी तरह न मानी। नल ने जगल की कठिनाइयों का वर्णन कर दमयन्ती को डराना चाहा, पर उसने कहा—'स्वामी, आप यह क्या कह रहे हैं। स्त्री, पुरुष की छाया है, क्या वह उससे दूर की जा सकती है?'

(२)

तो, नल और दमयन्ती दोनों ही वन की ओर चले। और अयोध्या की प्रजा ने अपनी आँखों से आँसू बहाये। इसके अतिरिक्त और उसके पास था ही क्या—जिसकी सहायता से वह अपने दुख को व्यक्त कर सकती? अपने न्यायी राजा नल को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। अपने राजा के प्रति उसका अनुराग अनूठा था- और वह उसका वियोग सह न सकी—तो, रो दी। उसका दुख हल्का हो गया। मगर उसका रोना नल को न रोक सका।

नल वन की ओर जा रहे थे—और दमयन्ती उनके पीछे-पीछे मार्ग की कठिनाइयों का अनुभव करती हुई बराबर उनका साथ दे रही थी। वह जानती थी, यह नारी का कर्त्तव्य है कि वह सुख और दुख में अपने पति का बराबर साथ दे। सुखी होकर वह फूल न जाये और दुखी होकर

घबड़ाये नहीं। और अपने इसी विश्वास के सहारे कोमलांगी राजरानी दमयन्ती कटीली और पथरीली ऊँची-नीची वन वीथियों में अपने पति का अनुसरण कर रही थी। अपने इस जीवन से भी वह सुखी थी और सन्तुष्ट भी।

चलते-चलते जब शाम हो गई तो दोनों ने फल-मूल खाकर अपनी भूख शांत की और रात बिताने के लिये एक वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये।

दमयन्ती थक कर चूर हो गई थी—अतः वह लेटते ही नींद आ गई। स्वच्छ आकाश से चाँदनी निर्झर के समान झर रही थी। वातावरण बिल्कुल शांत था। ठंडी हवा के झोंके कभी-कभी वृक्षों के पत्ते हिला जाते थे—जिससे वन में मर मर की आवाज गूँज जाती थी। नल दमयन्ती के पास बैठा हुआ अपने भाग्य के विषय में सोच रहा था। दमयन्ती का सुन्दर मुखड़ा कठिन मार्ग के थका देने वाले श्रम से कुम्हला गया था। नल ने देखा और सोचा, दमयन्ती स्त्री है, स्वभाव से ही कोमल—फिर, राजपुत्री और राजरानी। तो मार्ग की कठिनाइयों को यह न सह सकेगी। भले ही दमयंती मुझे न छोड़ना चाहती हो पर मुझे इसे यहीं छोड़कर चल देना होगा। मैं इसकी पीड़ा को देख सकने में असमर्थ हूँ। और वह उठ खड़ा हुआ। समीप ही पड़ी हुई एक पत्थर की शिला पर उसने लिखा—'दमयन्ती यहाँ से बायें हाथ की

तरफ जो मार्ग जाता है, वह तुम्हारे पिता की राजधानी कुण्डिनपुर का मार्ग है। अब तुम मुझे ढूँढने का प्रयत्न न करना और इस मार्ग से अपने पिता के घर चली जाना।'

दमयन्ती गहरी नींद मे अचेत पडी थी। दुखी मनुष्य को नींद आजाये—यह उस मनुष्य के लिये प्रकृति की अपूर्व देन है। कुछ देर के लिये तो वह दु खों से छुटकारा पा ही जाता है। परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क अपना काम बराबर करता रहता है। उसको शान्ति कहाँ—और रात के अन्तिम प्रहर मे दमयन्ती एक भयानक स्वप्न देख चौक कर उठ बैठी। चारों तरफ देखा, पर नल का कहीं पता नहीं था। वह और भी चिन्तित हो उठी। रात बीत रही थी और उषा का आगमन दिन का आभास दे रहा था। दमयन्ती की नजर उस पत्थर पर पडी जिस पर नल अपने हाथों से दमयन्ती के लिये अपना सन्देश लिख गया था। दमयन्ती ने उसे पढ़ा और बेसुध हो, वहीं गिर पड़ी। धीरे-धीरे जब उसे होश आया तो वह उठ खडी हुई और आँसुओं को अपने आँचल से पोंछती नल द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चल पडी। अब पति की आज्ञा का पालन करना ही उसका एकमात्र धर्म था—और उसने उसका पालन किया।

(३)

नल दमयन्ती को छोड़कर अपने मार्ग पर गति-हीन हुये-बिना बराबर आगे और आगे ही बढ़ा चला जा रहा था।

तभी एक स्थान पर धधकती आग में एक सर्प को पड़ा हुआ देख कर वह ठिठककर खड़ा हो गया—और उसने सुना सर्प कह रहा था—'हे नल ! तू मुझे बचा यह अग्नि मुझे भस्म किये दे रही है। और उस सर्प के मुख से अपना नाम सुनकर नल चौंक पड़ा मगर दूसरे ही क्षण उसने आगे बढ़ कर उस सर्प को अग्नि में से बाहर निकाल दिया।

तो वह सर्प उससे कहने लगा - 'बेटा नल मैं तेरा पिता निषध हूँ। तूने इस समय मेरी रक्षा की है—मैं तुमसे प्रसन्न हुआ। ले यह विद्या तू मुझसे ग्रहण कर, इससे तू अपनी इच्छानुसार अपना रूप बना सकेगा। इस जीवन में तेरे कर्म ऐसे नहीं हैं, मगर अपने पूर्व कर्मों के कारण तुझे यह दुख उठाना पड़ा है और दमयन्ती का वियोग सहना पड़ा है। कुछ समय के पश्चात् ही तुझे अपना राज्य वापिस मिल जावेगा और दमयन्ती से तेरा पुनर्मिलन होगा। मैं इस विद्या के बल से तेरा रूप कुबड़े का बना देता हूँ जिससे कोई तुझे पहिचान कर तेरा अहित नहीं कर सकेगा। घबराना नहीं जब चाहेगा तब इस विद्या की सहायता से तू अपना असली रूप धारण कर सकेगा। इतना कह कर वह सर्प-रूप-धारी देव अन्तर्धान हो गया।

नल कुबड़े के रूप में आगे बढ़ा। प्रातःकाल होते होते वह सुसुमार नगर में आ गया। सुसुमार नगर में दधिपर्ण

तरफ जो मार्ग जाता है, वह तुम्हारे पिता की राजधानी कुण्डिनपुर का मार्ग है। अब तुम मुझे ढूँढने का प्रयत्न न करना और इस मार्ग से अपने पिता के घर चली जाना।'

दमयन्ती गहरी नींद में अचेत पड़ी थी। दुखी मनुष्य को नींद आजाये—यह उस मनुष्य के लिये प्रकृति की अपूर्व देन है। कुछ देर के लिये तो वह दु खों से छुटकारा पा ही जाता है। परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क अपना काम बराबर करता रहता है। उसको शान्ति कहाँ—और रात के अन्तिम प्रहर में दमयन्ती एक भयानक स्वप्न देख चौंक कर उठ बैठी। चारों तरफ देखा, पर नल का कहीं पता नहीं था। वह और भी चिन्तित हो उठी। रात बीत रही थी और उषा का आगमन दिन का आभास दे रहा था। दमयन्ती की नजर उस पत्थर पर पड़ी जिस पर नल अपने हाथों से दमयन्ती के लिये अपना सन्देश लिख गया था। दमयन्ती ने उसे पढ़ा और बेसुध हो, वहीं गिर पड़ी। धीरे-धीरे जब उसे होश आया तो वह उठ खड़ी हुई और आँसुओं को अपने आँचल से पोंछती नल द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चल पड़ी। अब पति की आज्ञा का पालन करना ही उसका एकमात्र धर्म था—और उसने उसका पालन किया।

(३)

नल दमयन्ती को छोड़कर अपने मार्ग पर गति-हीन हुये-बिना बराबर आगे और आगे ही बढ़ा चला जा रहा था।

की तलाश में चला आया हूँ। राजा नल सूर्यपाक बनाने में बहुत ही प्रवीण थे। उनकी कृपा से मैंने भी यह बनाना सीख लिया है।

यह सुन कर राजा ऋतुपर्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुआ—और नल को पुरस्कार प्रदान कर उसे अपने यहाँ रसोई-घर में नौकर भी रख लिया।

(४)

अपने पति की आज्ञानुसार दमयन्ती उस भयंकर बन में अपना मार्ग बनाती हुई पिता के घर की ओर चली जा रही थी। चलते-चलते वह दोपहर तक मार्ग में पड़ने वाले अचल पुर नगर में आ-पहुँची। उन दिनों अचलपुर नगर में राजा ऋतुपर्ण राज्य करता था, उसकी रानी का नाम चन्द्रयशा था। वह दमयन्ती की मौसी लगती थी। दमयन्ती राजमहलों में पहुँची यह सोचकर कि उसकी मौसी उसे देखकर प्रसन्न होगी पर रानी उसे पहचान न सकी उसने दमयन्ती से पूछा—'तू कौन है और क्या चाहती है?' और अपनी मौसी के इस प्रश्न से दमयन्ती अचकचा-सी गई—मगर तुरन्त ही वह सँभली। क्षणभर उसने सोचा—जब मौसी न उसे नहीं पह चाना है और वह ऐसी दशा में है—तो उसे अपना परिचय नहीं देना चाहिए—फिर, वह कहने लगी—'महारानी जी मैं एक दासी हूँ और यहाँ कुछ काम करने के लिये आई हूँ।'

राजा राज्य करता था। उसका एक हाथी अपने बन्धन तोड़ कर नगर मे उत्पात मचा रहा था। नल जैसे ही सुसुमार नगर मे पहुँचा वैसे ही उसे रोक दिया गया। नगर मे हाथी के बिगड़ जाने से हाहाकार मचा हुआ था। राजा की ओर से हाथी को वश मे करने वाले के लिये एक बडा इनाम भी देने की घोषणा करदी गई थी। पर उस हाथी के सामने जाना मानों मौत के सम्मुख पहुँचना था। इसलिये अब तक कोई भी उसके सम्मुख पहुँचने का साहस नहीं कर सका था। नल इस कला में बड़ा प्रवीण था। उसे जब यह मालूम हुआ तो वह सिपाहियों की सहायता से वहाँ पहुँचा, जहाँ हाथी मतवाला बन सभी कुछ उजाड रहा था। हाथी उसे देखते ही उसकी ओर दौडा, मगर नल सावधानी के साथ दूसरी ओर हट गया। अब नल कभी हाथी के आगे और कभी उसके पीछे दौडने लगा। थोडी देर तक वह उसे इसी प्रकार इधर-उधर दौड़ाता रहा, फिर एक बार मौका देख, उछलकर उसकी पींठ पर जा बैठा और दूसरे ही क्षण उसने अकुश की सहायता से उसे अपने वश में कर लिया। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कुबड़े नल को अपने पास बुलाया और उसका परिचय पूछा। नल ने अपना परिचय देना उचित न समझा। वह बोला—'महाराज, मैं अयोध्या नरेश नल का रसोइया हूँ। महाराजा नल के बनवास चले जाने से मैं भी इधर नौकरी

ब्राह्मण ने कहा—'राजकुमारी, तुम्हारा पता नहीं लगने से उन्हें चैन नहीं है, वह दिन-रात तुम्हारी ही चिन्ता में रहते हैं।'

रानशाला में रहने वाली दासी नहीं दमयन्ती है। जब ये समाचार रानी चन्द्रमशा तक पहुँचा तो वह दौड़ी हुई दम यन्ती के पास आई और बोली—बेटी, मुझे माफ कर दो, मैंने तुझे दासी समझ कर ही यह काम सौंपा था। तू ने अगर मुझे अपना नाम बता दिया होता तो यह अनर्थ मुझसे न होता।'

दमयन्ती ने कहा—'मौसी पति की कुछ खबर न हो और मैं राजमहलों में बैठी-बैठी मौज करूँ यह किस प्रकार हो सकता था। इतना कहते ही दमयन्ती की आँखों में आँसू छलक आये।

रानी चन्द्रमशा ने दमयन्ती को धीरज बँधाया और कहा—बेटी, चिन्ता न करो ! राजा नल का भी पता लगाया जा रहा है। हो न हो वे कहीं अपना वेश बदल कर रह रहे हैं, अन्यथा अब तक तो उनका पता लग गया होता ! दुखों को सहन करने की भी एक मर्यादा होती है। मनुष्य के सब दिन बराबर नहीं जाते। अब तेरे वे दिन भी नहीं रहेंगे, नल को खोज निकाला जायेगा—चाहे वह कहीं भी हों। धीरज रख और अब तू मेरे साथ राजमहलों में रह।'

रानी ने कहा—'तू क्या काम जानती है ?'

दमयन्ती ने कहा—'मैं सब काम करना जानती हूँ। आप जो भी कहेंगी मैं उसे कर सकूँगी।'

दमयन्ती के रूप-लावण्य को देखकर रानी चन्द्रमशा को यह विश्वास हो गया था कि यह निश्चय ही किसी मुसीबत की मारी हुई उच्च घराने की कुलीन स्त्री है, जो भटकती हुई यहाँ आ पहुँची है। इसलिये उसने दमयन्ती को अपनी दानशाला में जगह दे दी।

(५)

रोज दिन उगता और अस्त हो जाता। इस तरह एक पर एक दिन व्यतीत होने लगे। नल, राजा ऋतुपर्ण के यहाँ रसोइया बन कर अपने दिन गुजार रहा था, और दमयन्ती रानी चन्द्रमशा की दानशाला में अपने दिन विता रही थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी राजा नल के विषय में उसे किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त नहीं हो रही थी—और वह उदास थी। उन्हीं दिनों, सयोगवश एक दिन कुण्डिनपुर से एक ब्राह्मण अचलपुर आया। उसने दानशाला में जब दमयन्ती को देखा तो अचरज में भर उसने उससे पूछा—'राजकुमारी दमयन्ती यहाँ कैसे ?'

दमयन्ती ने भी उस ब्राह्मण को पहिचान लिया और वोली—'विप्रवर! पिताजी प्रसन्न तो हैं ?'

पत्रिका भेजी जाय। यह पत्रिका उसे निश्चित तिथि से एक रोज पहले मिल सके ऐसी व्यवस्था हो जानी चाहिये। यदि वहाँ राजा नल होंगे तो वह अश्व-विद्या के बल से एक ही दिन में राजा को यहाँ पहुँचा देंगे। फिर हमें पूरा विश्वास हो जायगा कि वह रसोइया नहीं राजा नल ही है। राजा भीम को यह युक्ति सबको पसंद आई। तुरन्त ही एक दूत इस कार्य के लिये राजा दधिपर्ण के पास भेजा गया। निश्चित तिथि के एक दिवस पूर्व दूत वहाँ पहुँच गया। राजा दधिपर्ण के पास जब वह पत्रिका लेकर पहुँचा तो र जा उसे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसमें लिखा था—

प्रिय महाराज !

अयोध्या नरेश राजा नल का पता न चलने के कारण पुत्री दमयन्ती का स्वयंवर कल पुनः किया जा रहा है। आशा है आप उसमें अवश्य भाग लेंगे। मुझे यह लिखते हुए बड़ी खुशी हो रही है कि इन दिनों दमयन्ती भी आपके प्रति विशेष आदर-भाव रखने लग गई है।

आपका अपना ही
भीम,

दधिपर्ण राजा ने पत्रिका को कई बार पढ़ा। क्या दमयन्ती सचमुच मुझे आदर की दृष्टि से देखने लगी है? तब तो वह अवश्य ही मेरे गले में वरमाला डाल देगी। लेकिन

दमयन्ती कुछ दिनों तक अपनी मौसी के यहाँ रहकर अपने पिता के पास कुण्डिनपुर चली आई। पिता के यहाँ रहते हुए भी उसे काफी दिन हो गये, परन्तु राजा नल का अभी तक कुछ भी पता न चल सका—और वह बहुत दुखी थी। पुत्री के दुख से माता-पिता भी बहुत दुखी थे।

एक दिन सुसुमार नगर का एक व्यापारी कुण्डिलपुर नगर में आया और राजा से बोला—'महाराज, हमारे राजा के रसोई घर में कुछ दिनों से एक रसोइया काम करता है, जो अपने को राजा नल का रसोइया कहता है। वह सूर्यपाक रसोई बनाना भी जानता है। शरीर से कुबड़ा है, पर बड़ा गुणवान है। उसे हाथी को वश में करने की कला भी आती है।' व्यापारी की यह बात दमयन्ती ने भी सुनी। उसे विश्वास हो गया कि यह और कोई नहीं स्वय राजा नल ही हैं। मौसी ने ठीक ही कहा था कि वह कहीं वेश बदलकर रह रहे हैं। उनकी यह बात सच प्रतीत होती है। हो सकता है कि उन्होंने अपने शरीर का रूप किसी विद्या की सहायता से बदल डाला हो। यह सुनकर दमयन्ती के पिता को भी कुछ इसी प्रकार का विश्वास हो रहा था, परन्तु वह अभी एक परीक्षा और करना चाहते थे। उन्होंने कहा--'राजा नल अश्व विद्या में भी बड़े निपुण हैं। इसका पता चलाने के लिये राजा दधिपर्ण के पास दमयन्ती के पुनर्विवाह की कुकुम-

प्रसन्न हो रहे थे। अब उन्हें किसी भी प्रकार का सन्देह न रह गया था। सूर्यपाक रसोई भी उससे तैयार करवाई गई जिसे राजा नल के सिवाय दूसरा कोई नहीं बना सकता था।

राजा भीम ने मौका देखकर कुबड़े को अपने महल में बुलाया और कहा—'हमने आपके गुणों की परीक्षा करली है। राजा नल के या तीन विशिष्ट गुण हैं—सूर्यपाक रसोई बनाना हाथी को वश में करना और अश्व विद्या को जानना, वे आप में उसी तरह पाये जाते हैं। अतः इस वेष में आप राजा नल ही हैं। इसमें अब हमें सन्देह नहीं रहा है। कृपा कर अब आप अपना वास्तविक रूप धारण कीजिये और मेरी पुत्री दमयन्ती का दारुण दुख निवारण कीजिये। मैं अपनी पुत्री के दुख से बहुत अधिक दुखी हूँ।'

कुबड़े ने कहा—'गजब! आप यह क्या कह रहे हैं। कहाँ राजा नल का सौन्दर्य और कहाँ मैं बदरूप कुबड़ा। कहीं आप भ्रम में तो नहीं हैं?'

भीम हँसे और कहने लगे—'हमने आपके गुणों को भली प्रकार देख लिया है और हमें यह विश्वास हो गया है कि आप राजा नल ही हैं। शरीर-शंका निवारण का काम तो आपके ऊपर निर्भर करता है। जिस विद्या से आपने यह रूप धारण किया है उसी विद्या से आप अपना असली अपना रूप धारण कीजिये। क्या आप अब भी अपने स्वजनों का कष्ट

स्वयवर की तिथि तो कल की ही है। इतने कम समय में कुण्डिलपुर कैसे पहुँचा जा सकेगा ? राजा विचार में पड़ गया। पास ही कुबड़े के रूप में राजा नल जल-पान लेकर खड़ा था। उसने जब यह कु कुमपत्रिका देखी तो मन ही मन कहने लगा—क्या दमयन्ती मेरे रहते हुए भी पुन लग्न करने वाली है ? तनिक मैं भी तो चल कर देखूँ। और महाराज का ध्यान भग करते हुये उन्होंने प्रार्थना की—'महाराज, कुछ भी चिन्ता न करें। मैं अश्व-विद्या भी जानता हूँ। आप अपना रथ तैयार करने की आज्ञा दीजिये। मैं निश्चित समय से पहले ही आपको कुण्डिलपुर पहुँचा दूगा।' यह सुन कर दधिपर्ण राजा की खुशी का पार न रहा। रथ तैयार कराया गया। राजा सजधज कर रथ में आ बैठा। राजा नल के रथ पर बैठते ही घोड़े हवा से बातें करने लगे। राजा मन ही मन बड़ा खुश हो रहा था। दोनों नियत समय से पहले ही कु डिलपुर जा पहुँचे।

नगर में स्वयम्वर के लायक कोई तैयारियाँ नहीं हो रही थीं और न किसी तरह की चहल-पहल ही थी। राजा का रथ सीधा राजमहलों में जाकर खड़ा हो गया। खबर मिलते ही राजा भीम ने दधिपर्ण का स्वागत किया और उनके भोजन तथा निवास-स्थान की व्यवस्था करदी।

महाराज भीम कुबड़े सारथि को देखकर बहुत अधिक

वे शुद्ध संयम का पालन करते हुए तपस्या-परायण रहे। अंत में वे दोनों स्वर्ग सिधारे।

अपने सतीत्व-बल से दमयन्ती ने नल को फिर प्राप्त किया—यही कारण है, जो आज भी हृदय बार-बार यही कह उठता है—

"महासती दमयन्ती की जय"

दूर करना नहीं चाहते हैं।' यह कहते-कहते राजा भीम का गला भर आया। कुवड़ा भी अब अधिक समय तक अपने को छिपा न सका। वह तत्क्षण अपनी रूपपरावर्तिनी विद्या के चल से नल के रूप में प्रकट हो गया। यह देखकर राजा भीम की आत्मा पुलकित हो उठी। दमयन्ती की खुशी का पारावार न रहा। पत्नी को अपना पति मिल जाय इससे अधिक दुनियाँ मे और क्या खुशी है, उसके लिये ? दमयन्ती के जीवन में फिर एक वार वसन्त आया। सुसुमार नगर के राजा दधिपर्ण ने भी नल से क्षमा माँगी। चारों ओर आनन्द की एक लहर-सी दौड़ गई। वायु की गति से यह वात अयोध्या मे भी पहुँची। नल का छोटा भाई कुवेर दौड़ कर नल के पास आया और उसके पैरों मे गिर कर क्षमा माँगने लगा। नल ने उठाकर उसे अपने गले से लगा लिया। भ्रातृ-प्रेम का निर्मल झरना अब वहाँ अवाध-गति से झर रहा था।

इस प्रकार राजा नल पुन अयोध्या के राजा वने और दमयन्ती महारानी।

(६)

कुछ दिनों वाद दमयन्ती के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम पुष्कर रखा गया। सव तरह से योग्य हो जाने पर पिता राजा नल ने अपना सारा भार युवराज पुष्कर को सौंप दिया और स्वय दमयन्ती-सहित दीक्षा ग्रहण की। वर्षों तक

वे शुद्ध संयम का पालन करते हुए तपस्या-परायण रहे। अंत में वे दोनों स्वर्ग सिधारे।

अपने सतीत्व-बल से दमयन्ती ने नल को फिर प्राप्त किया—यही कारण है, जो आज भी हृदय बार-बार यही कह उठता है—

"महासती दमयन्ती की जय"

मृगावती

'मृगावती कौन ? क्या कोई कल्पना-चित्र है—यह किसी देवी का ?' अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योतन ने साश्चर्य पूछा। चित्रकार ने कहा—'महाराज, यह किसी देवी का कल्पना-चित्र नहीं है। यह तो वैशाली के प्रसिद्ध राजा चेटक की पुत्री और कौशाम्बी के महाराज शतानीक की रानी मृगावती का चित्र है।'

'ओह ! रानी मृगावती ! कैसा अनुपम रूप और लावण्य है इसका ? मैं तो इसे कोई देवी समझ रहा था, सचमुच देवी, पर यह तो मानुषी निकली !!' स्त्री लोलुप राजा चण्डप्रद्योतन ने चित्र पर अपनी दृष्टि गढाते हुए कहा—

चित्रकार कहने लगा—'राजन् ! आखिर तो यह चित्र ही है न ? चित्र से हम रूप का अन्दाज कर सकते हैं, पर उसके गुणों को बारीकी से नहीं जान सकते हैं। रानी मृगावती का जैसा यह आकर्षक रूप है तदनुरूप ही उसमें गुण भी हैं।

रूप शरीर की बाहिरी चमक का नाम है—जिसे हम अपने चर्मचक्षुओं द्वारा देख लेते हैं, पर गुणों को जानने के लिये तो उसको अति निकट से देखना अपेक्षित होता है—तभी उसका धीरे धीरे —।'

राजा—'ओह! मृगावती-सी अपूर्व-सुन्दरी उस शतानीक के यहाँ! हँसनी भी कहीं कौए के यहाँ शोभा पा सकती है!' चित्रकार की बात राजा को बहुत अच्छी लगी। उसने बहुत बड़ा इनाम देकर उसे विदा किया और तत्क्षण एक दूत को बुलाकर आज्ञा दी—'तुम इसी समय कौशाम्बी के राजा शतानीक के पास जाओ और मेरा यह सन्देश उनको सुनाओ कि 'अवन्ती का राजा रानी मृगावती को चाहता है। इस लिये यदि तुम अपना भला चाहते हो तो मृगावती को शीघ्र ही अवन्ती भेज दो अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।

दूत कौशाम्बी पहुँचा और महाराजा शतानीक को सारी बात कह सुनाई। दूत की बात सुन कर राजा आगबबूला हो गया। उसने दूत को बुरी तरह से अपमानित कर नगरी से बाहिर निकलवा दिया।

दूत ने लौट कर सारी बात राजा को कह सुनाई। चंड-प्रद्योतन से अब न रहा गया। उसने अपनी विशाल सेना लेकर कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी।

(२)

वात यह थी कि जो चित्रकार रानी मृगावती का चित्र वनाकर चंडप्रद्योतन के दरवार में आया था, वह शतानीक राजा की चित्रशाला में काम करता था। उसे यह वरदान था कि वह किसी भी वस्तु का केवल एक भाग देखकर उस वस्तु का सम्पूर्ण चित्र अंकित कर लेता था। एक दिन जव वह शतानीक राजा की चित्रशाला में चित्र वना रहा था, तव रानी मृगावती अपने महल की खिड़की में वैठी हुई थी। सहसा उसके एक पैर का अंगूठा चित्रकार को दिखलाई दे गया। फिर क्या था ? उसने अपनी तूलिका उठाई और देखते ही देखते रानी का चित्र तैयार कर दिया। रानी की जांघ पर एक काला तिल था, वह भी उस चित्र में अंकित हो गया था। चित्रकार ने उसे मिटाने की वहुत कोशिश की, परन्तु जव वह न मिट सका तो उसने समझ लिया कि रानी की जांघ पर एक तिल भी अवश्य होना चाहिये।

शाम हुई। राजा अपनी चित्रशाला में आया और चित्रों को देखने लगा। देखते-देखते उसकी नजर मृगावती के चित्र पर गई, जिसकी सुन्दरता को देख कर वह क्षण-भर के लिये मनोमुग्ध हो गया। पर दूसरे ही क्षण जव उसने वह काला तिल देखा तो वह तिलमिला उठा। तत्क्षण उसके मन में यह सन्देह पैदा हो गया कि 'हो न हो रानी मृगावती

के साथ इस चित्रकार का अनुचित संबंध अवश्य है, अन्यथा यह इस जांघ के काले तिल को कैसे जान सकता है ?'

सन्देह, मानव-जीवन की बहुत बड़ी भूल होती है। मिले हुए दूध और पानी में जिस तरह थोड़ी सी खटाई पड़ जाने पर वे फट जाते हैं, उसी तरह दो मिले हुए हृदयों को भी सन्देह अलग कर देता है। राजा ने तत्क्षण उस चित्रकार को बुलाया और उसे फांसी पर चढ़ा देने का हुक्म सुना दिया।

मंत्री चित्रकार की कला से परिचित था। इस लिये उसने कहा—'महाराज चित्रकार निर्दोष है, इसका अपराध जाने बिना उसे प्राणदण्ड की सजा नहीं मिलनी चाहिये।'

राजा ने कहा—'अमात्य! तुम इसे निर्दोष कहते हो? इसने मेरे अन्तःपुर को कलंकित किया है, अन्यथा यह रानी-मृगावती के जांघ के तिल को कैसे जान सकता है? क्या अब भी तुम्हें इसके अपराध में सन्देह मालूम होता है?'

मंत्री ने कहा—'यह कलाकार है राजन्! उसको ऐसा ही वरदान प्राप्त है, वह जिस किसी का भी एक अंग देख लेता है उसका पूरा चित्र तैयार कर देता है। चित्रकार कहता है कि मैंने रानी मृगावती के पैर का अंगूठा देखकर यह चित्र बनाया है।'

राजा अब कुछ धीमा पड़ा और बोला—'इसका प्रमाण?' मंत्री ने कहा—'किसी वस्तु के एक भाग को दिखाकर आप इसकी परीक्षा कर सकते हैं।'

(५)

धर्म की महिमा अपार है। शील धर्म के प्रताप से जगल मे भी मगल हो जाता है, काँटे फूल वन जाते हैं और अग्नि भी शीतल हो जाती है। इधर तो चडप्रद्योतन का चढाई कर आना हुआ और उधर से भगवान महावीर का भी कौशाम्वी में पधारना हुआ। नगरी के वाहिर समवसरण की रचना की गई।❀ सव लोग उपदेश सुनने के लिये आये। मृगावती और उदयन भी सव लोगों से आगे वैठ कर उपदेश श्रवण कर रहे थे। इतने में चडप्रद्योतन राजा भी भगवान के दर्शनार्थ वहाँ आ पहुंचा। मृगावती को देखते ही उसे चित्रकार के चित्र की स्मृति हो आई। लेकिन यहाँ आने पर उसके चित्त की वृत्तियाँ वदल चुकी थीं। वहाँ पहुँचकर हिंसक पशु भी अपने वैर भाव को छोड़ देते हैं, तो फिर मनुष्य की तो वात ही क्या है? मानव, मानव है। वह भूल कर सकता है, करना उसका स्वभाव भी है, पर फिर उसे सुधार लेना भी उसकी अपनी वात है।

भगवान ने उपदेश देते हुए कहा—'महानुभावो! वय और यौवन वरसाती नदी की तरह वहने वाले हैं। अपने

❀ तीर्थङ्कर भगवान जव उपदेश देते हैं तव देवताओं द्वारा जिस सभा-मडप की रचना की जाती है उसे 'समवसरण' कहते हैं। जहा आने पर हिंसक भी अपना वैरभाव भूल जाते हैं।

दोनों हाथों से आकाश को नापना और कामनाओं को पूरी करना दोनों बराबर हैं। भोगों से कामनाएँ बढ़ती नहीं हैं और वैर से अन्तर्दाह मिटता नहीं है। तप त्याग और संयम से ही कामनाएँ शान्त होती हैं, अन्तर्दाह मिट जाता है और जीवन का कल्याण होता है, यह वह त्रिवेणी है जिसमें नहाने से मनुष्य का अन्तर्बाह्य-दोनों निर्मल हो जाते हैं।

जीवन सबको प्रिय है। सुख सबको प्यारा है। दूसरों के जीवन से अपना जीवन चलाना पाप है। दूसरों के सुखों का भोग लेकर अपना सुख बढ़ाना अधर्म है। तुम जीओ और दूसरों को भी उसी तरह जीने दो यही मेरा शाश्वत धर्म है। जो इस पर चलेगा वह एक दिन अवश्य इस भवसागर से पार हो जायेगा। अपने अन्तिम लक्ष्य को पाकर वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन जायगा।

भगवान का उपदेश समाप्त होते ही मृगावती उठ खड़ी हुई और बोली—'भगवन्! मैं अब दीक्षा लेकर अपने पापों का प्रायश्चित कर लेना चाहती हूँ। मैं अब तक अपने स्त्री-चरित्र से राजा चण्डप्रद्योतन को ठगती रही हूँ लेकिन अब मैं अपने इस अपराध के लिये उनसे क्षमा चाहती हूँ। आशा है वे मुझे क्षमा कर देंगे।

यह सुनकर चण्डप्रद्योतन ने कहा—'बहिन जल्दी न करो।

राजा ने चित्रकार की परीक्षा की
सफल हुआ। परन्तु फिर भी राजा व
उसने कहा—'कला, कला के लिये न
वह है जिससे मानव-समाज का क
जब कला के लिये बन जाती हैं तो उ
हो जाता है। उससे हित नहीं, अहि
बना रहती है। चित्रकार ने रानी का
कला का जो नग्न प्रदर्शन किया है इ
हाथ का अगूठा काट दिया जाय जि
कभी अपनी कला का इस तरह दुरुप

राजा के हुक्म से चित्रकार का
चित्रकार दुखित हो अपने घर लौ
वह अवती में रहने के लिये कौश
अवती का राजा चण्डप्रद्योतन शता
ने अपना अगूठा कट जाने पर भी
लेने के लिये रानी मृगावती का
लेकर वह चण्डप्रद्योतन के दरब
इच्छा पूरी हुई। राजा ने मृगावती
पर चढाई कर दी।

(३

राजा चडप्रद्योतन की सेना
से घेर लिया। शतानीक ने अप

समझ सका है ? मैंने जो कुछ उस समय कहा था अपने शील की रक्षा के लिये ही कहा था। मैं अब विधवा बन गई हूँ, और विधवा को पुनर्विवाह करने की आज्ञा कोई भी धर्मशास्त्र नहीं देता है। वे तो उसे आजीवन अपने ब्रह्मचर्य को पालने का ही निर्देश करते हैं। तब क्या मैं अपना धर्म छोड़ दूं और राजा के पास चली जाऊँ ? नहीं यह कभी नहीं हो सकेगा। धर्म को छोड़ना और मरना बराबर है। जब तक मैं जीवित रहूँगी मेरी रग-रग में धर्म का निर्मल प्रवाह बहता रहेगा। जिस दिन मेरे धर्म पर आघात किया जायगा उस दिन मैं उसकी रक्षा के लिये अपने प्राणों का त्याग कर दूंगी पर अपने धर्म पर आँच न आने दूंगी। जाओ तुम अपने राजा से कह देना कि मृगावती ऐसी स्त्री नहीं है जो पर-पुरुष की चाह करती हो। उसे तुम जैसे पामर मनुष्य क्या, स्वयं रति-पति कामदेव भी क्यों न आ जाँय अपने व्रत से डिगा नहीं सकते हैं।'

सेवक जैसे आये थे वैसे ही लौट गये। मृगावती आने वाली आफत से सशंकित हो गई। वह उससे बचने के लिये नमस्कार मंत्र का जाप करने लगी।

चंडप्रद्योतन को जब यह बात मालूम हुई तो उसने फिर कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी।

(५)

धर्म की महिमा अपार है। शील धर्म के प्रताप से जगल में भी मगल हो जाता है, कॉटे फूल वन जाते हैं और अग्नि भी शीतल हो जाती है। इधर तो चडप्रद्योतन का चढाई कर आना हुआ और उधर से भगवान महावीर का भी कौशाम्वी में पधारना हुआ। नगरी के वाहिर समवसरण की रचना की गई।❀ सव लोग उपदेश सुनने के लिये आये। मृगावती और उदयन भी सव लोगों से आगे बैठ कर उपदेश श्रवण कर रहे थे। इतने मे चडप्रद्योतन राजा भी भगवान के दर्शनार्थ वहाँ आ पहुंचा। मृगावती को देखते ही उसे चित्रकार के चित्र की स्मृति हो आई। लेकिन यहॉ आने पर उसके चित्त की घृत्तियाँ वदल चुकी थीं। वहाँ पहुँचकर हिंसक पशु भी अपने वैर भाव को छोड़ देते हैं, तो फिर मनुष्य की तो वात ही क्या है? मानव, मानव है। वह भूल कर सकता है, करना उसका स्वभाव भी है, पर फिर उसे सुधार लेना भी उसकी अपनी वात है।

भगवान ने उपदेश देते हुए कहा—'महानुभावो! वय और यौवन वरसाती नदी की तरह वहने वाले हैं। अपने

❀ तीर्थङ्कर भगवान जव उपदेश देते हैं तव देवताओं द्वारा जिस सभा-मडप की रचना की जाती है उसे 'समवसरण' कहते हैं। जहा आने पर हिंसक भी अपना वैरभाव भूल जाते हैं।

दोनों हाथों से आकाश को मापना और कामनाओं को पूरी करना दोनों बराबर हैं। भोगों से कामनाएँ बुझती नहीं हैं और वैर से अन्तर्दाह मिटता नहीं है। तप, त्याग और संयम से ही कामनाएँ शान्त होती हैं, अन्तर्दाह मिट जाता है और जीवन का कल्याण होता है, यह वह त्रिवेणी है जिसमें नहाने से मनुष्य का अन्तर्बाह्य-दोनों निर्मल हो जाते हैं।

जीवन सबको प्रिय है। सुख सबको प्यारा है। दूसरों के जीवन से अपना जीवन बसाना पाप है। दूसरों के सुखों का भोग लेकर अपना सुख बढ़ाना अधर्म है। तुम जीओ और दूसरों को भी वैसी तरह जीने दो यही मेरा शाश्वत धर्म है। जो इस पर चलेगा वह एक दिन अवश्य इस भवसागर से पार हो जायेगा। अपने अन्तिम ध्येय को पाकर वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन जायगा।

भगवान का उपदेश समाप्त होते ही मृगावती उठ खड़ी हुई और बोली—'भगवन्! मैं अब दीक्षा लेकर अपने पापों का प्रायश्चित कर लेना चाहती हूँ। मैं अब तक अपने स्त्री-चरित्र से राजा चण्डप्रद्योतन को ठगती रही हूँ, लेकिन अब मैं अपने इस अपराध के लिये उनसे क्षमा चाहती हूँ। आशा है वे मुझे क्षमा कर देंगे।'

यह सुनकर चण्डप्रद्योतन ने कहा—'बहिन जल्दी न करो।

(५)

धर्म की महिमा अपार है। शील धर्म के प्रताप से जंगल में भी मगल हो जाता है, काँटे फूल वन जाते हैं और अग्नि भी शीतल हो जाती है। इधर तो चडप्रद्योतन का चढ़ाई कर आना हुआ और उधर से भगवान महावीर का भी कौशाम्वी में पधारना हुआ। नगरी के वाहिर समवसरण की रचना की गई।❀ सव लोग उपदेश सुनने के लिये आये। मृगावती और उदयन भी सव लोगों से आगे वैठ कर उपदेश श्रवण कर रहे थे। इतने में चडप्रद्योतन राजा भी भगवान के दर्शनार्थ वहाँ आ पहुंचा। मृगावती को देखते ही उसे चित्रकार के चित्र की स्मृति हो आई। लेकिन यहाँ आने पर उसके चित्त की वृत्तियाँ वदल चुकी थीं। वहाँ पहुँचकर हिंसक पशु भी अपने वैर भाव को छोड़ देते हैं, तो फिर मनुष्य की तो वात ही क्या है ? मानव, मानव है। वह भूल कर सकता है, करना उसका स्वभाव भी है, पर फिर उसे सुधार लेना भी उसकी अपनी वात है।

भगवान ने उपदेश देते हुए कहा—'महानुभावो! वय और यौवन वरसाती नदी की तरह वहने वाले हैं। अपने

❀ तीर्थङ्कर भगवान जव उपदेश देते हैं तव देवताओं द्वारा जिस सभा-मडप की रचना की जाती है उसे 'समवसरण' कहते हैं। जहा आने पर हिंसक भी अपना वैरभाव भूल जाते हैं।

दोनों हाथों से आकाश को मापना और कामनाओं को पूरी करना दोनों बराबर हैं। भोगों से कामनाएँ दबती नहीं हैं और वैर से अन्तर्दाह मिटता नहीं है। तप, त्याग और संयम से ही कामनाएँ शान्त होती हैं, अन्तर्दाह मिट जाता है और जीवन का कल्याण होता है, यह वह त्रिवेणी है जिसमें नहाने से मनुष्य का अन्तर्बाह्य-दोनों निर्मल हो जाते हैं।

जीवन सबको प्रिय है। सुख सबको प्यारा है। दूसरों के जीवन से अपना जीवन बचाना पाप है। दूसरों के सुखों का भोग लेकर अपना सुख बढ़ाना अधर्म है। तुम जीओ और दूसरों को भी उसी तरह जीने दो यही मेरा शाश्वत धर्म है। जो इस पर चलेगा वह एक दिन अवश्य इस भवसागर से पार हो जायेगा। अपने अन्तिम लक्ष्य को पाकर वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन जायगा।'

भगवान का उपदेश समाप्त होते ही मृगावती उठ खड़ी हुई और बोली—'भगवन्! मैं अब दीक्षा लेकर अपने पापों का प्रायश्चित कर लेना चाहती हूँ। मैं अब तक अपने स्त्री-चरित्र से राजा चण्डप्रद्योतन को ठगती रही हूँ, लेकिन अब मैं अपने इस अपराध के लिये उनसे क्षमा चाहती हूँ। आशा है वे मुझे क्षमा कर देंगे।

यह सुनकर चण्डप्रद्योतन ने कहा—'बहिन जल्दी न करो।

हम तुम्हारे शुभ सकल्प मे बाधक न बनेंगे। लेकिन दीक्षा लेने से पूर्व अपने पुत्र उदयन का राज्याभिषेक तो देख लो।'

सबका ध्यान चण्डप्रद्योतन की तरफ लगा हुआ था। उसने जरा रुक कर फिर कहा—'बहिन, तुम मुझसे क्षमा माँग रही हो, पर क्षमा माँगने का सच्चा अधिकारी तो मैं हूँ। तुमने तो अपने शील को पवित्र रखने के लिये ही मुझे भुलावा दिया है, पर मेरा तो मन ही सब तरह से मलिन हो गया था। इसलिये जो अपराध है, वह मेरा है, तुम्हारा नहीं। क्या तुम इसके लिये मुझे क्षमा नहीं करोगी?'

चडप्रद्योतन के भावों मे यह आकस्मिक परिवर्तन देखकर मृगावती प्रसन्न हो उठी। उसने कहा—'राजन्। आप मेरे धर्म भाई हैं, आपकी अगर यही इच्छा है तो मैं उसे टाल भी नहीं सकती हूँ। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है, 'उदयन पर सदा ऐसी ही कृपा रखना।'

चडप्रद्योतन ने हँसते हुए कहा—'बहिन, क्या तुम्हारे मन में अब भी कोई शका शेष है?'

मृगावती—'नही भाई, मुझे तुम्हारे इस परिवर्तन पर बड़ी खुशी है। इन्सान भूलों का पुतला है। इसलिये उससे भूल हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु जो नरवीर होते हैं, वे तुम्हारी तरह अपनी भूल अपने आप सुधार लेते हैं।'

उदयन का राज्याभिषेक हो जाने पर मृगावती ने भगवान से दीक्षा अंगीकार की और महासती चन्दनबाला की आज्ञा में विचरने लगी।

(६)

एक बार भगवान महावीर पुनः विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। महारानी चन्दनबाला भी मृगावती आदि शिष्याओं के साथ वहाँ आई। एक दिन मृगावती भगवान का दर्शन करने गई। सन्ध्या का समय था। सूर्यदेव स्वयं भगवान की सेवा में उपस्थित थे। अतः मृगावती को दिन का कुछ भी पता न चल सका। वापिस लौटी तो उसे मार्ग में ही रात हो गई। चन्दनबाला ने उसे उलाहना देते हुए कहा—'साध्वियों को सूरज डूबने के बाद अपने स्थान से बाहर नहीं रहना चाहिये।'

मृगावती ने अपराध स्वीकार किया और इसका वह पश्चात्ताप करने लगी। यथा समय सब सतियाँ सो गई पर मृगावती बैठी-बैठी पश्चात्ताप ही करती रही। वह इसमें इतनी लीन हो गई कि पश्चात्ताप करते-करते उसे केवल ज्ञान हो गया। उसका हृदय शुद्ध हो निर्मल प्रकाश से जगमगा उठा।

सवेरा हुआ। सती मृगावती को केवल ज्ञान होने के समाचार सुनकर उदयन अपनी माता को वन्दन करने आ

हम तुम्हारे शुभ सकल्प मे बाधक न बनेंगे। ले
से पूर्व अपने पुत्र उदयन का राज्याभिषेक तो

सबका ध्यान चण्डप्रद्योतन की तरफ
उसने जरा रुक कर फिर कहा—'बहिन, त
रही हो, पर क्षमा माँगने का सच्चा अ
तुमने तो अपने शील को पवित्र रखने के
दिया है, पर मेरा तो मन ही सब त
था। इसलिये जो अपराध है, वह
क्या तुम इसके लिये मुझे क्षमा नहीं

चडप्रद्योतन के भावों में यह
मृगावती प्रसन्न हो उठी। उस
धर्म भाई हैं, आपकी अगर य
नहीं सकती हूँ। लेकिन मेरी
ऐसी ही कृपा रखना।'

चडप्रद्योतन ने हँ
मन में अब भी कोई

मृगावती—'न
खुशी है। इन्सान
जाना स्वाभावि
तरह अपनी

सुलसा

आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले की बात है, एक बार स्वर्ग में देवताओं की एक सभा हुई। सब देवता यथास्थान बैठे थे। तभी भरी-सभा में इन्द्र कहने लगा—

'मेरे प्यारे देवताओ! आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि मानव-जीवन देव-जीवन से भी ऊँचा है। हम लोगों की तो एक सीमा होती है, जिससे हम ऊपर नहीं जा सकते, पर मानव-जीवन निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। इसको कोई सीमा अपने में बाँध नहीं पाती। मानव इससे भी ऊपर उठ सकता है और हमारा भी पूज्य बन सकता है। मनुष्य से परमात्मा बन कर वह सब-कुछ कर सकता है। लेकिन देव-जीवन में परमात्मा पद तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

और अन्त में उसने कहा—'भरतखण्ड में राजगृही नामक एक प्रसिद्ध नगरी है। वहाँ नाग सारथी की पत्नी सुलसा

नामक एक सती स्त्री रहती है। वह स्वभाव से बड़ी शान्त और गंभीर है। क्रोध तो उसे कभी आता ही नहीं है। वह अपने धर्म पर ऐसी दृढ़ है कि देव भी उसे डिगा नहीं सकते हैं।'

इन्द्र का कथन समाप्त हुआ। तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूँज उठा। उसी समय एक देव खड़ा हुआ और बोला—'महाराज! आप हमारे राजा होकर मृत्युलोक की एक स्त्री का गुणगान करें यह योग्य नहीं है। मृत्युलोक के निवासी स्वर्ग के रहने वालों से किस प्रकार बड़े हो सकते हैं। मुझे यह सुन कर हँसी आती है कि मनुष्य एक धर्म पर दृढ़ रह सकता है, तो उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। स्त्री हो या पुरुष, वह तो स्वभाव से ही स्वार्थी और लोभी होता है। उसे जहाँ भी कुछ स्वार्थ दीख पड़ता है वहाँ ही वह दौड़ा चला जाता है, फिर एक स्त्री की क्या विसात है? आपने आपने सुलसा की बहुत अधिक प्रशंसा की है। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं मृत्युलोक में जाकर उसकी परीक्षा करूँगा।'

इन्द्र ने कहा—'तुम उसकी परीक्षा ही लेना चाहते हो तो जाओ, पर सती को अधिक कष्ट देने की बात न कर बैठना।'

देवताओं की सभा समाप्त हुई और सब देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

(२)

सुलसा—'धन्य है मुनिराज ! भिक्षा के लिये पधार कर आज आपने मेरा घर पवित्र कर दिया। मैं कौन-सी वस्तु भेंटकर आपको प्रसन्न करूँ ?'

मुनि ने कहा—'बहिन मैं भिक्षा के लिये नहीं आया हूँ। मुझे जो वस्तु चाहिये उसके लिये मैं सब जगह फिर आया हूँ, पर वह कहीं नहीं मिली है।

सुलसा ने बीच में ही कहा—'महाराज वह क्या चीज है ? अगर मेरे यहाँ वह होगी तो मैं आपको देकर धन्य हो जाऊँगी।

मुनि ने कहा—'मेरे साथ दूसरे भी कई साधु हैं जो लम्बे विहार से थक कर बीमार हो गये हैं। उनके पैर सूज गये हैं। अतः उनके लिये लक्षपाक तेल की आवश्यकता है। क्या तुम्हारे यहाँ लक्षपाक तेल है ?

लक्षपाक तेल बड़ा कीमती होता है। सुलसा के यहाँ उसके तीन शीशे भरे हुए थे। उसने हर्षित होकर कहा—'लाती हूँ महाराज आप जरा ठहरिये।'

सुलसा भीतर गई और तेल का शीशा उठा कर बाहर आने लगी। परन्तु यह तो देव-माया थी। सुलसा ने शीशा उठाया ही था कि वह उसके हाथ से फिसल कर फूट गया। उसने दूसरा उठाया तो उसका भी यही हाल हुआ। अब

नामक एक सती स्त्री रहती है। वह स्वभाव मे बडी शान्त और गभीर है। क्रोध तो उसे कभी आता ही नहीं है। वह अपने धर्म पर ऐसी दृढ है कि देव भी उसे डिगा नहीं सकते हैं।'

इन्द्र का कथन समाप्त हुआ। तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूँज उठा। उसी समय एक देव खड़ा हुआ और बोला—'महाराज! आप हमारे राजा होकर मृर्त्यलोक की एक स्त्री का गुणगान करे यह योग्य नहीं है। मृर्त्यलोक के निवासी स्वर्ग के रहने वालों से किस प्रकार बडे हो सकते हैं। मुझे यह सुन कर हँसी आती है कि मनुष्य एक धर्म पर दृढ रह सकता है, तो उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। स्त्री हो या पुरुष, वह तो स्वभाव से ही स्वार्थी और लोभी होता है। उसे जहाँ भी कुछ स्वार्थ दीख पड़ता है वहाँ ही वह दौडा चला जाता है, फिर एक स्त्री की क्या विसात है? आपने आपने सुलसा की बहुत अधिक प्रशसा की है। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं मृत्युलोक मे जाकर उसकी परीक्षा करूँगा।'

इन्द्र ने कहा—'तुम उसकी परीक्षा ही लेना चाहते हो तो जाओ, पर सती को अधिक कष्ट देने की बात न कर बैठना।'

देवताओं की सभा समाप्त हुई और सब देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

(२)

सुलसा—'धन्य है मुनिराज ! भिक्षा के लिये पधार कर आज आपने मेरा घर पवित्र कर दिया। मैं कौन-सी वस्तु भेंटकर आपको प्रसन्न करूँ ?

मुनि ने कहा—'बहिन मैं भिक्षा के लिए नहीं आया हूँ। मुझे जो वस्तु चाहिये उसके लिये मैं सब जगह फिर आया हूँ, पर वह कहीं नहीं मिली है।

सुलसा ने बीच में ही कहा—'महाराज वह क्या चीज है ? अगर मेरे यहाँ वह होगी तो मैं आपको देकर धन्य हो जाऊँगी।'

मुनि ने कहा—'मेरे साथ दूसरे भी कई साधु हैं जो लम्बे विहार से थक कर बीमार हो गये हैं। उनके पैर सूज गये हैं। अतः उनके लिये लक्षपाक तेल की आवश्यकता है। क्या तुम्हारे यहाँ लक्षपाक तेल है ?

लक्षपाक तेल बड़ा कीमती होता है। सुलसा के यहाँ उसके तीन शीशे भरे हुए थे। उसने हर्षित होकर कहा—'लाती हूँ महाराज आप जरा ठहरिये।

सुलसा भीतर गई और तेल का शीशा उठा कर बाहर आने लगी। परन्तु यह तो देव-माया थी। सुलसा ने शीशा उठाया ही था कि वह उसके हाथ से फिसल कर फूट गया। उसने दूसरा उठाया तो उसका भी यही हाल हुआ। अब

नामक एक सती स्त्री रहती है। वह स्वभाव से बड़ी शान्त और गभीर है। क्रोध तो उसे कभी आता ही नहीं है। वह अपने धर्म पर ऐसी दृढ है कि देव भी उसे डिगा नहीं सकते हैं।'

इन्द्र का कथन समाप्त हुआ। तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूँज उठा। उसी समय एक देव खड़ा हुआ और बोला—'महाराज! आप हमारे राजा होकर मृत्यलोक की एक स्त्री का गुणगान करें यह योग्य नहीं है। मृत्यलोक के निवासी स्वर्ग के रहने वालों से किस प्रकार बड़े हो सकते हैं। मुझे यह सुन कर हँसी आती है कि मनुष्य एक धर्म पर दृढ़ रह सकता है, तो उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। स्त्री हो या पुरुष, वह तो स्वभाव से ही स्वार्थी और लोभी होता है। उसे जहाँ भी कुछ स्वार्थ दीख पड़ता है वहाँ ही वह दौड़ा चला जाता है, फिर एक स्त्री की क्या बिसात है? आपने आपने सुलसा की बहुत अधिक प्रशसा की है। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं मृत्युलोक में जाकर उसकी परीक्षा करूँगा।'

इन्द्र ने कहा—'तुम उसकी परीक्षा ही लेना चाहते हो तो जाओ, पर सती को अधिक कष्ट देने की बात न कर बैठना।'

देवताओं की सभा समाप्त हुई और सब देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

(२)

सुलसा—'धन्य है मुनिराज ! भिक्षा के लिये पधार कर आज आपने मेरा घर पवित्र कर दिया। मैं कौनसी वस्तु भेंटकर आपको प्रसन्न करूँ ?

मुनि ने कहा—'बहिन मैं भिक्षा के लिये नहीं आया हूँ। मुझे जो वस्तु चाहिये उसके लिये मैं सब जगह फिर आया हूँ, पर वह कहीं नहीं मिली है।

सुलसा ने बीच में ही कहा—'महाराज वह क्या चीज है ? अगर मेरे यहाँ वह होगी तो मैं आपको देकर धन्य हो जाऊँगी।

मुनि ने कहा—'मेरे साथ दूसरे भी कई साधु हैं जो लम्बे विहार से थक कर बीमार हो गये हैं। उनके पैर सूज गये हैं। अतः उनके लिये लक्षपाक तेल की आवश्यकता है। क्या तुम्हारे यहाँ लक्षपाक तेल है ?

लक्षपाक तेल बड़ा कीमती होता है। सुलसा के यहाँ उसके तीन शीशे भरे हुए थे। उसने हर्षित होकर कहा—'लाती हूँ महाराज आप जरा ठहरिये।'

सुलसा भीतर गई और तेल का शीशा उठा कर बाहर आने लगी। परन्तु यह तो देव-माया थी। सुलसा ने शीशा उठाया ही था कि वह उसके हाथ से फिसल कर फूट गया। उसने दूसरा उठाया तो उसका भी यही हाल हुआ। अब

तीसरा शीशा लेकर वह आने लगी तो उसके पैर में कांच चुभ गया और वह नीचे गिर पड़ी। इस तरह वह तीसरा शीशा भी फूट गया। कांच चुभ जाने से सुलसा के पैर से रक्त बह रहा था। और इधर इतना नुकसान भी हो चुका था। फिर भी उसे न खेद हुआ और न क्रोध ही आया। वह लँगड़ाती हुई मुनि के पास आई और बोली—'महाराज! मैं आपकी सेवा कर सकने मे असमर्थ हूँ, एक-एक कर तीनों शीशे लाते-लाते ही फूट गये।' इससे अधिक वह न बोल सकी। उसका गला भर आया। मुनि ने देखा, सुलसा को शीशे फूट जाने का दुख नहीं है बल्कि मुझे यह तेल न दे सकी इसी का उसे दुख हो रहा है। उसके पाँव से रक्त बह रहा है, फिर भी वह अपनी व्यथा व्यक्त नहीं कर रही है। इससे वह मुनि-वेषी देव बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—'बहिन, मुझे लक्षपाक तेल नहीं चाहिये। तुम दुख मत करो। यह तो मेरी देव-माया थी। स्वर्ग में जब देवों की सभा में इन्द्र ने तुम्हारी प्रशसा की तो वह मुझे ठीक न लगी। तुम्हारी परीक्षा करने के लिये ही मैं यहाँ आया था। तुम मेरी परीक्षा मे सफल हुई हो। और इन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशसा की थी उसी के अनुरूप तुम हो। बोलो, अब तुम क्या चाहती हो? जो कुछ चाहो वह खुशी से माँग सकती हो।' मुनि ने अपना देव-रूप धारण करते हुए कहा।

सुलसा ने कहा—'आप देव हैं, तो मेरे मन की बात आप अवश्य जानते हैं—फिर, उसे पूरा करना आपकी इच्छा पर निर्भर है। यह कह कर सुलसा चुप हो गई।

देव ने उसकी इच्छा को समझा। उसने सुलसा को बत्तीस गोलियां दीं और कहा—'बहिन तुम प्रति दिन एक-एक गोली खाओगी तो बत्तीस लक्षणों वाले सुन्दर पुत्र को जन्म दोगी जिससे तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।'

सुलसा यह सुन कर बड़ी प्रसन्न हुई। और तभी उसने देखा—देव अन्तर्ध्यान हो गया है। लेकिन सुलसा अभी भी सुन-पा रही थी—'बहिन जब कभी मुसीबत के समय मुझे याद करोगी तो मैं उसी समय तुम्हारी सहायता के लिये आऊँगा।'

(२)

सुलसा ने एक-एक कर बत्तीस गोलियाँ गिनीं और हर्षातिरेक में एक गोली रोज खाने के बजाय बत्तीस गोलियाँ एक साथ खा लीं। गोलियों के प्रभाव से उसके गर्भ तो रह गया परन्तु पेट में भयंकर दर्द होने लगा। दर्द के असह्य हो जाने से सुलसा ने उस देव का स्मरण किया। देव ने प्रकट होकर कहा—'बहिन तुमने एक साथ सब गोलियाँ खाकर बड़ी भूल की है। इसी से तुम्हारे पेट में यह असह्य-पीड़ा उत्पन्न हो गई है।

सुलसा ने कहा—'जो होनहार होता है वह होकर ही रहता है ? हर्षातिरेक में मुझे कुछ भी ध्यान न रहा और मैं सभी गोलियाँ एक साथ खा गई। अब क्या होगा ? मेरी यह उदर-पीडा बड़ी असह्य होती जा रही है।'

'देव का वरदान कभी खाली नहीं जाता है, बहिन ! घबराओ नहीं। लो, यह एक गोली मैं तुम्हें और देता हूँ, इसे खा लेने पर तुम्हारी यह उदर-पीड़ा बन्द हो जायगी।' देव गोली देकर चला गया। और कुछ ही क्षणों के उपरान्त सुलसा शान्त और स्थिर थी। अब वह बड़ी लगन के साथ अपने गर्भ की रक्षा करने लगी।

यथा-समय सुलसा ने ३२ लक्षणों से युक्त एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। जिसकी खुशी में नाग सारथी ने बड़ा उत्सव मनाया। पुत्र का नाम देवदत्त रखा गया। योग्य होने पर उसे सब विद्याओं की शिक्षा दी गई। वह सब कलाओं में प्रवीण हो गया और राजा श्रेणिक के यहाँ नौकरी करने लगा।

(४)

कुछ दिनों बाद राजा श्रेणिक और चैटक में युद्ध हुआ। युद्ध होने का कारण था राजा श्रेणिक चैटक राजा की पुत्री चेलणा का हरण कर लाया था। चैटक राजा ने उस पर चढ़ाई की। उस युद्ध में सुलसा के पुत्र की मृत्यु हो गई।

यह दुखद समाचार सुन कर सुलसा को अपार दुख हुआ। माता के लिये अपने पुत्र का मरण बड़ा भयंकर होता है। जिसे वह अपने आँचल का दूध पिला पाल-पोष कर बड़ा करती है, वही जब उससे नाता तोड़ चल देता है तो माता के दुख की भी क्या कोई सीमा हो सकती है? सुलसा की छाती भर आई और उसका मातृ-हृदय बाँध तोड़ कर बह निकला। (वह फूट-फूट कर रोने लगी) उसका वह करुण रुदन किसी से भी देखा नहीं जा रहा था।

सुलसा को सान्त्वना देने के लिये राजा श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार उसके पास आया और बोला— बहिन सुलसा! तुम तो धर्म के मर्म को समझती हो। तुम्हें इस तरह विलाप करना शोभा नहीं देता है। मनुष्य का जीवन क्षणिक होता है। जो उत्पन्न होता है वह एक दिन मृत्यु को भी निश्चय ही प्राप्त होता है। फिर यह दुख और रोना-धोना क्यों? क्या तुम नहीं जानतीं जो फूल प्रातः की शीतल वायु का स्पर्श कर खिल उठता है, वह शीघ्र ही मुरझाकर धूल में मिल जाता है। मानव का जीवन भी खिले हुये फूल के समान है। जब तक फूल में सुवास और देह में आत्मा का निवास होता है तब ही तक उनका अस्तित्व है, वे प्यारे और अच्छे लगते हैं मगर मृत्यु का आलिंगन करने पर वे निस्सत्व निस्सार और श्रीहीन हो जाते हैं।

सुलसा ने कहा—'जो होनहार होता है वह होकर ही रहता है ? हर्षातिरेक में मुझे कुछ भी ध्यान न रहा और मैं सभी गोलियाँ एक साथ खा गई। अब क्या होगा ? मेरी यह उदर-पीडा बडी असह्य होती जा रही है।'

'देव का वरदान कभी खाली नहीं जाता है, बहिन ! घबराओ नहीं। लो, यह एक गोली मैं तुम्हें और देता हूँ, इसे खा लेने पर तुम्हारी यह उदर-पीडा बन्द हो जायगी।' देव गोली देकर चला गया। और कुछ ही क्षणों के उपरान्त सुलसा शान्त और स्थिर थी। अब वह बड़ी लगन के साथ अपने गर्भ की रक्षा करने लगी।

यथा-समय सुलसा ने ३२ लक्षणों से युक्त एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। जिसकी खुशी मे नाग सारथी ने बड़ा उत्सव मनाया। पुत्र का नाम देवदत्त रखा गया। योग्य होने पर उसे सब विद्याओं की शिक्षा दी गई। वह सब कलाओं में प्रवीण हो गया और राजा श्रेणिक के यहाँ नौकरी करने लगा।

(४)

कुछ दिनों बाद राजा श्रेणिक और चैटक में युद्ध हुआ। युद्ध होने का कारण था राजा श्रेणिक चैटक राजा की पुत्री चेलणा का हरण कर लाया था। चैटक राजा ने उस पर चढाई की। उस युद्ध में सुलसा के पुत्र की मृत्यु हो गई।

यह दुखद समाचार सुन कर सुलसा को अपार दुख हुआ। माता के लिये अपने पुत्र का मरण बड़ा भयंकर होता है। जिसे वह अपने आँचल का दूध पिला, पाल पोष कर बड़ा करती है, वही जब उससे नाता तोड़ चल देता है तो माता के दुख की भी क्या कोई सीमा हो सकती है? सुलसा की छाती भर आई और उसका मातृ-हृदय बाँध तोड़ कर बह निकला। (वह फूट-फूट कर रोने लगी) उसका वह करुण रुदन किसी से भी देखा नहीं जा रहा था।

सुलसा को सान्त्वना देने के लिये राजा श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार उसके पास आया और बोला— बहिन सुलसा! तुम तो धर्म के मर्म को समझती हो। तुम्हें इस तरह विलाप करना शोभा नहीं देता है। मनुष्य का जीवन क्षणिक होता है। जो उत्पन्न होता है वह एक दिन मृत्यु को भी निश्चय ही प्राप्त होता है। फिर यह दुख और रोना-धोना क्यों? क्या तुम नहीं जानती जो फूल प्रात: की शीतल वायु का स्पर्श कर खिल उठता है, वह शीघ्र ही मुरझाकर धूल में मिल जाता है। मानव का जीवन भी खिले हुवे फूल के समान है। जब तक फूल में सुवास और देह में आत्मा का निवास होता है तब ही तक उनका अस्तित्व है, वे प्यारे और अच्छे लगते हैं मगर मृत्यु का आलिंगन करने पर वे निस्सत्व निस्सार और श्रीहीन हो जाते हैं।

'बहिन, यह तो ससार का माया-जाल है। यहाँ किसका सगा-सम्बन्धी है ? सब सम्बन्ध झूठे हैं। अत श करना छोड़ो और धर्म की आराधना करो। सुख और दुः धर्म ही एक मनुष्य का सच्चा साथी होता है जो मरते स भी उसका साथ नहीं छोड़ता है।'

अभयकुमार के वचन सुनकर सुलसा का शोक जाता और वह धर्म की आराधना में लीन रहने लगी।

(५)

भगवान महावीर विचरते हुए एक बार चम्पानगर पधारे। देवों ने समवसरण की रचना की। सब लोग भगवान का उपदेश सुना। उपदेश के अन्त में राजगृह एक विद्याधारी अम्मड तापस खड़ा हुआ और बोल 'भगवन्! मैं आज आपका उपदेश सुनकर कृतार्थ हो ग अब मैं अपने घर राजगृही जा रहा हूँ। कृपा कर राज के निवासियों को भी आप अपने दर्शनों का पावन दीजियेगा।'

भगवान ने कहा—'राजगृही नगरी में नाग सारथि पत्नी सुलसा सती और धर्मपरायण श्राविका है। उसने धर्म पर दृढ़ रह कर तीर्थङ्कर गोत्र बाँध लिया है। आ चौवीसी मे वह पन्द्रहवाँ तीर्थङ्कर बनेगी और प्राप्त करेगी।'

अम्बड़ अपनी विद्या से अपने कई रूप धारण कर सकता था। उसने अपने मन में सोचा सुलसा सती धन्य है, जिसने तीर्थंकर गोत्र बाँध कर अपना जीवन सफल कर लिया है। पर अब भी उसकी परीक्षा करके तो देखना चाहिए कि वह अपने धर्म पर किस प्रकार दृढ़ रहती है? यह सोच कर वह राजगृही में आया और एक संन्यासी का रूप धारण कर सुलसा के पास पहुँच कहने लगा—'सुलसे मुझे भिक्षा दो तुम्हें धर्म होगा।

सुलसा ने कहा—भिक्षा देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है पर जिन्हें देने से धर्म होता है उन्हें मैं जानती हूँ।' यह सुन कर संन्यासी लौट आया। अब उसने गाँव के बाहर अपना दूसरा रूप धारण किया। विद्या के बल से उसने आकाश में पद्मासन लगाया और लोगों को आश्चर्य में डालने लगा। लोग उसे भोजन के लिये निमंत्रित करने लगे। पर उसने सबके निमन्त्रण अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं सुलसा का आमंत्रण स्वीकार करूँगा दूसरों का नहीं।

लोग दौड़े हुए सुलसा के पास आये और बोले—'बहिन, आज तुम्हारा भाग्य खुल गया है। तीन दिन का भूखा संन्यासी तुम्हारे यहाँ भोजन करने का आमंत्रण चाहता है।'

सुलसा ने कहा—मैं इसे पोप-लीला समझती हूँ। यह संन्यासी ढोंगी प्रतीत होता है।

लोगों को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने अम्बड़ से जाकर यह बात कहदी। अम्बड़ ने अब सन्यासी का रूप बदल कर जैन-मुनि का वेष धारण किया और भिक्षार्थ सुलसा के घर जाकर खड़ा हो गया। इस बार सुलसा ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और बड़े आनन्द के साथ उसे भिक्षा दी।

यह देख कर अम्बड़ ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और बोला—'बहिन, तुम बड़ी पुण्यशालिनी हो। तुम्हारे दृढ धर्म की भगवान महावीर ने भी प्रशसा की है। मैंने तुम्हें अपने धर्म से विचलित करने के लिये कई प्रयत्न किये पर तुम उनसे चलायमान नहीं हुई। धन्य है तुम्हारा धर्मानुराग और धन्य है तुम्हारा पवित्र जीवन !!'

(६)

स्वर्ग में देवताओं की सभा आरम्भ हुई। सब देव यथास्थान बैठे हुए थे। इन्द्र ने खडे होकर सुलसा की परीक्षा के निमित्त गये हुए देव को सम्बोधित कर पूछा—'हे देव ! सुलसा की परीक्षा के निमित्त तुमने बीड़ा उठाया था, कहो, क्या सुलसा तुम्हारी परीक्षा में सफल हो सकी ?' इतना पूछ कर इन्द्र अपने स्थान पर बैठ गये।

सभा मौन थी। सब देवता उस देव की बात सुनने के लिये व्यग्र थे। वह देव अपने स्थान से खड़ा हुआ और

बोला—'महाराज, जब आपने पहले सुलसा की प्रशंसा की थी तो मुझे वह असत्य प्रतीत हुई थी। परन्तु जब मैंने उसकी परीक्षा की तो मुझे यह विश्वास हो गया कि सचमुच सुलसा बड़ी धीर और शान्तिप्रिय मानवी है। क्रोध करना तो वह जानती ही नहीं है। न उसे कोई अपने धर्म से डिगा ही सकता है।

इतना सुनते ही तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूंज उठा। सबने एक ही स्वर में कहा—

'सती सुलसा की जय'

कुन्ती

हस्तिनापुर के राजा पाण्डु के दो रानियाँ थीं। नाम था कुन्ती और माद्री। शौर्यपुर नगर के राजा अंधकवृष्णि की ये दोनों पुत्रियाँ थीं। दोनों बहिनें बड़ी योग्य और सुशील थीं। दोनों अपने पति के साथ बडे प्रेम से रहा करती थीं। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीनों कुन्ती के पुत्र थे। और माद्री के नकुल और सहदेव। आगे जाकर यही पाँचों भाई पांडवों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

एक बार महाराज पाण्डु अपनी दोनों रानियों के साथ वन क्रीडा के निमित्त वन की ओर चले। सुहावनी वसन्त-ऋतु थी। मादक बयार बह रही थी। राजा और रानियाँ वन की शोभा को निरखते हुये विचरण कर रहे थे। अकस्मात् हृदय की गति बन्द हो जाने से राजा की मृत्यु हो गई। दोनों रानियाँ शोक सागर में डूब बेसुध हो गईं। हस्तिनापुर मे जब यह दुख-पूर्ण समाचार पहुँचा तो सारी प्रजा शोक-मग्न हो गई।

पाँडवों के दुख की तो कोई सीमा ही न थी। उन्होंने वन में पहुँच अपने पिता की चिता तैयार की। दोनों रानियाँ भी अपने मृत पति के साथ जल मरने को तैयार हुई। परन्तु माद्री के कहने से कुन्ती ने अपना वह विचार छोड़ दिया। माद्री अपने पति के साथ ही जीवित जलकर सती हो गई। शोकाकुल पाँडव अपनी माता कुन्ती को लेकर राजमहलों में लौट आये।

पाण्डु राजा के बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था। वह जन्म से ही अन्धे थे। उनकी स्त्री का नाम गांधारी था। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे जो कौरव कहलाते थे। दुर्योधन उनमें सबसे बड़ा था जो बड़ा धूर्त और कपटी था। पांडवों से उसे बड़ी ईर्षा होती थी। वह किसी तरह उनका राज्य हड़प कर खुद राजा बन जाना चाहता था। उसने एक उपाय खोज निकाला और पांडवों को जुआ खेलने के लिये तैयार कर लिया। जुआ के दाँव-पेंच चलने लगे और पांडव अपना सारा राज्य उसमें खो बैठे। फिर उन्हें द्रौपदी-सहित वनों की खाक छाननी पड़ी।

पुत्रों के वन चले जाने से कुन्ती बड़ी दुखी थी। उसका मन किसी भी काम में नहीं लगता था। एक दिन श्रीकृष्ण उससे मिलने आये। श्रीकृष्ण कुन्ती के भतीजे थे।

कुन्ती कृष्ण को देखकर आँखों में आँसू भर लाई और कहने लगी—"वत्स! पाँचों पांडव जंगल की खाक छान रहे

है। राज-सुखों में पली हुई द्रौपदी अब अपनी रात पेड़ों के नीचे गुजार देती है। वहाँ न जाने उनको कितने कष्ट सहन करने पड़ रहे होंगे ? पुत्र दुखी हों तो क्या कोई माता सुखी रह सकती है ?'

कृष्ण ने उसे धीरज बधाया और कहा—'इस तरह घबराने से दुख कम नहीं होता है, और बढ जाता है। अत' घबराओ नहीं और धीरज धारण करो । मनुष्य के सब दिन एक समान नहीं होते हैं। जैसे रात के पीछे दिन होता है, वैसे ही दुख के पीछे सुख भी रहता है। सतोप ही इस दुख से पार जाने का एकमात्र सबल है।'

कुन्ती को समझा-बुझाकर श्रीकृष्ण कौरवों के पास आये और बोले—'तुम राज्य भोगते रहो और तुम्हारे चचेरे भाई पांडव दर-दर भटकते रहें, यह क्या तुम्हारे लिये शोभा की बात हो सकती है ? उन्हें आधा नहीं तो कम से कम पाँच गाँव ही दे दो। वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जायेंगे।' इस तरह कृष्ण ने उन्हें बहुत समझाया, पर वे किसी तरह राजी न हुए। कौरव अन्याय करने पर उतारू थे। उन्हें श्रीकृष्ण की बातें अच्छी न लगीं। विवश हो श्रीकृष्ण वहाँ से लौट आये। अन्त में कौरवों और पांडवों के बीच वह भयकर युद्ध हुआ। जिसे महाभारत के नाम से पुकारा जाता है। एक-एककर सभी कौरव इस युद्ध में काम आये। विजय पांडवों की हुई।

युधिष्ठिर पुनः हस्तिनापुर के राजा बने और कुन्ती बनी राज-माता।

कौरवों के पिता धृतराष्ट्र और माता गांधारी अपने पुत्रों की मृत्यु से दुखित हो वन में जाकर रहने लगे। पांडव चाहते तो उनसे भी बदला ले सकते थे। परन्तु वे इतने निर्दयी नहीं थे। उन्हें जंगल में किसी तरह की कोई तकलीफ न हो उन्होंने तो ऐसी व्यवस्था कर दी। राजमाता कुन्ती अपनी उदारता के वशीभूत हो उन दोनों की सेवा के निमित्त वन में उनके साथ रहने लगी। यही कारण है, जो औरों के दुख को दुख समझूँ दुख का कहूँ उपाय इस सिद्धान्त को चरितार्थ कर राजमाता कुन्ती इतिहास में सदैव के लिये अपना नाम अमर कर गई है।

(२)

कुछ समय बाद कुन्ती ने अपने पुत्रों से दीक्षा की अनुमति मांगी। लेकिन पांडवों ने उसे आज्ञा नहीं दी। तब कुन्ती ने कहा—'पुत्रों! जो दुनियाँ में आता है वह एक दिन यहाँ से निश्चय ही जायेगा। यह संसार परिवर्तनशील है। आज क्या है और कल क्या होगा? यह कौन जानता है। अतः जिन्दगी का भरोसा कर बैठे रहना मूर्खता है। दीपक में तेल और बाती भी हो, पर न जाने कब हवा का तेज झोंका आ जाय और दीपक बुझ जाय इसका भी क्या कुछ ठिकाना हो सकता

है। राज-सुखों मे पली हुई द्रौपदी अब अपनी रात पेड़ों के नीचे गुजार देती है। वहाँ न जाने उनको कितने कष्ट सहन करने पड रहे होंगे ? पुत्र दुखी हों तो क्या कोई माता सुखी रह सकती है ?'

कृष्ण ने उसे धीरज वधाया और कहा—'इस तरह घबराने से दुख कम नहीं होता है, और बढ जाता है। अत घबराओ नही और धीरज धारण करो। मनुष्य के सब दिन एक समान नहीं होते हैं। जैसे रात के पीछे दिन होता है, वैसे ही दुख के पीछे सुख भी रहता है। सतोप ही इस दुख से पार जाने का एकमात्र सवल है।'

कुन्ती को समझा-बुझाकर श्रीकृष्ण कौरवों के पास आये और बोले—'तुम राज्य भोगते रहो और तुम्हारे चचेरे भाई पांडव दर-दर भटकते रहें, यह क्या तुम्हारे लिये शोभा की बात हो सकती है ? उन्हें आधा नहीं तो कम से कम पाँच गाँव ही दे दो। वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जायेंगे।' इस तरह कृष्ण ने उन्हें बहुत समझाया, पर वे किसी तरह राजी न हुए। कौरव अन्याय करने पर उतारू थे। उन्हें श्रीकृष्ण की बातें अच्छी न लगीं। विवश हो श्रीकृष्ण वहाँ से लौट आये। अन्त में कौरवों और पांडवों के बीच वह भयकर युद्ध हुआ। जिसे महाभारत के नाम से पुकारा जाता है। एक-एककर सभी कौरव इस युद्ध में काम आये। विजय पांडवों की हुई।

युधिष्ठिर पुन: हस्तिनापुर के राजा बने और कुन्ती बनी राज-माता।

कौरवों के पिता धृतराष्ट्र और माता गांधारी अपने पुत्रों की मृत्यु से दुखित हो वन में जाकर रहने लगे। पांडव चाहते तो उनसे भी बदला ले सकते थे। परन्तु वे इतने निर्दयी नहीं थे। उन्हें जंगल में किसी तरह की कोई तकलीफ न हो इससे उन्होंने तो ऐसी व्यवस्था कर दी। राजमाता कुन्ती अपनी उदारता के वशीभूत हो उन दोनों की सेवा के निमित्त वन में उनके साथ रहने लगी। यही कारण है, जो औरों के दुख का दुख समझूँ सुख का करूँ उपाय' इस सिद्धान्त को चरितार्थ कर राजमाता कुन्ती इतिहास में सदैव के लिये अपना नाम अमर कर गई है।

(२)

कुछ समय बाद कुन्ती ने अपने पुत्रों से दीक्षा की अनुमति मांगी। लेकिन पांडवों ने उसे आज्ञा नहीं दी। तब कुन्ती ने कहा—'पुत्रों! जो दुनियाँ में आता है वह एक दिन यहाँ से निश्चय ही जायेगा। यह संसार परिवर्तनशील है। आज क्या है और कल क्या होगा? यह कौन जानता है। अत: जिन्दगी का भरोसा कर बैठे रहना मूर्खता है। दीपक में तेल और बाती भी हो पर न जाने कब हवा का तेज झोंका आ जाय और दीपक बुझ जाय, इसका भी क्या कुछ ठिकाना हो सकता

है। अत मनुष्य को शुभ कार्य करने में देरी नहीं करनी चाहिये। ये जो सुख हमें प्राप्त हैं, सब क्षणिक हैं। सुख और दुख का इस जीवन में मैंने भली-भाँति अनुभव कर उनकी निस्सारता को देख लिया है—मगर मुझे स्थायी शान्ति कहीं भी न मिली। अब मैं उसी शान्ति-सुख की साधना करना चाहती हूँ। तुम अब मोह-वश मेरे मार्ग में बाधक न बनो।'

कुन्ती की ऐसी उदात्त वैराग्य-भावना को देख कर पांडवों को उसे दीक्षा की अनुमति दे देनी पड़ी। कुन्ती ने साध्वी बन कर कठोर तपश्चर्या की और अन्त में जिस शाश्वत शान्ति-सुख की साधना के लिये उसने यह व्रत अंगीकार किया था उसको प्राप्त कर कुन्ती अमर हो गई।

———

प्रभावती

पति और पत्नी का सम्बन्ध वहाँ बहुत ही मधुर बन जाता है, जहाँ दो दिल मिलकर एक हो जाते हैं। पत्नि पति की अनुगामिनी रहे और पति, पत्नी के सुख-दुख का ध्यान रक्खे तो गृहस्थ-जीवन सुखी और समृद्धिशाली बन जाता है। महाराजा उदयन और रानी प्रभावती के जीवन की कथा कुछ इसी तरह की है। प्रभावती गणराज्य के अधिपति महाराजा चेटक की पुत्री थी। चेटक के सात पुत्रियाँ थीं। जिनमें से मृगावती शिवा प्रभावती और पद्मावती की गणना सोलह सतियों में की जाती है। शेष पुत्रियों में भगवान् महावीर की माता त्रिशला श्रेणिक की रानी चेलणा और आजन्म ब्रह्मचारिणी सुज्येष्ठा थी। इन सातों आदर्श पुत्रियों के पिता बन कर राजा चेटक सदैव के लिये जैन-इतिहास में अमर हो गये हैं।

महाराजा उदयन सिन्धु सौ वीर देश के राजा थे। वीत-भय नगर उनकी राजधानी थी। रानी प्रभावती अपने वाल्य-काल से ही वड़ी धर्मपरायणा थी। उसने अपनी राजधानी में कई पाठशालाऍं स्थापित की थीं, जिनमे वह स्वय जाकर धार्मिक शिक्षा दिया करती थी।

एक वार भगवान महावीर का वहॉ आगमन हुआ। राजा और रानी दोनों ही भगवान का उपदेश सुनने के लिये गये। भगवान के अमृतमय वचनों को सुनकर रानी प्रभावती को ससार से वैराग्य हो गया। उसने उदयन से दीक्षा लेने की अनुमति मॉगी। यह सच है कि दोनों का प्रेम-सम्वन्ध अटूट था। दोनों एक दूसरे से अव तक अलग न हुए थे। परन्तु प्रेम जव अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तव फिर वहाँ मोह का स्थान विवेक ले लेता है। उन दोनों का प्रेम इसी सीमा तक पहुँच चुका था। अत उदयन ने कहा—'रानी, तुम दीक्षा लो, इससे मुझे दुख नहीं है। परन्तु मेरी एक शर्त है।'

'क्या महाराज!' रानी ने पूछा।

उदयन कहने लगे—'अगर तुम मुझसे पहले स्वर्ग में चली जाओ तो तुम्हें वहाँ से भी प्रतिवोध देने के लिये यहाँ जरूर आना पड़ेगा। अगर तुम्हें यह मेरी शर्त मजूर है तो फिर मुझे दीक्षा की स्वीकृति देने में कोई हिचकिचाहट नहीं है।'

प्रभावती ने यह स्वीकार कर लिया और दीक्षा ग्रहण कर कठोर तपस्या में लीन हो गई। आयुष्य पूर्ण होने पर वह स्वर्ग सिधारी।

(२)

पति और पत्नी का धर्म परस्पर एक दूसरे की सहायता करना है। इसी प्रकार यह जीवन-क्रम चलता रहता है—और तभी, दुःख भी सुख बन जाता है। अपने इस धर्म को प्रभावती स्वर्ग में जाकर भी न भूल सकी। वह अपने दिये हुये वचन के पालन के निमित्त स्वर्ग से पृथ्वी पर आई और राजा उदयन को प्रतिबोध दिया। प्रतिबोध पाकर उदयन को भी वैराग्य हो गया और उसने भी मुनि-दीक्षा अंगीकार करली।

प्रभावती उदयन मुनि को नमस्कार कर अन्तर्धान हो गई। मुनि उदयन ने अपने चारों ओर देखा मगर प्रभावती न दीख पड़ी तो वह वनों की ओर चले गये।

दशरथ अपनी रानी कौशल्या को लेकर अयोध्या लौट आये और बड़े आनन्द से रहने लगे। राजा दशरथ के तीन रानियाँ और थीं—कैकेयी सुमित्रा और सुप्रभा। परन्तु इन सब में कौशल्या बड़ी थी।

कुछ समय बाद राजा दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न हुए। रानी कौशल्या ने राम को जन्म दिया। सुमित्रा से लक्ष्मण उत्पन्न हुए। कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न पैदा हुए।

चारों रानियों में अगाध प्रेम था। सभी एक दूसरी से हिलमिल कर परस्पर बहिन के समान रहती थीं। रानी कौशल्या सब से बड़ी थी परन्तु उसे बड़ी और इसलिये पट रानी होने का अभिमान नहीं था। वे मिलजुल कर रहती हुई सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं।

छोटे बालक अपनी माताओं से ही संस्कार ग्रहण करते हैं। माता अगर अच्छे विचारों वाली होती है तो उसके बालक भी गुणवान बन जाते हैं। यही कारण है कि वे चारों बालक परस्पर बहुत ही प्रेम-पूर्वक रहते थे। यह देखकर महाराज दशरथ स्वयं को बहुत ही सुखी और भाग्यशाली समझते थे।

जब महाराज के चारों पुत्र बड़े हुये—उन्हें सभी प्रकार की शिक्षा भली प्रकार दी गई—और वे चारों शीघ्र ही सभी विद्याओं में पारंगत हो गये। कौशल्या-नन्दन राम सब से बड़े थे। वे बड़े गंभीर और शांत प्रकृति के थे। सीता स्वयंवर

में राम विजयी हुये और मिथिला के राजा जनक ने अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह उनके साथ कर दिया।

राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे। मगर उनके राज्य के अधिकारी राम योग्य थे, इसलिये उन्हें कोई चिन्ता न थी। और एक दिन गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से राम के राज्याभिषेक का दिन निश्चित् कर वह बहुत प्रसन्न हुये।

स्त्रियों के मन को मैला होते देर नहीं लगती है। जहाँ स्वार्थ का अकुर फूटा नहीं कि सन्देह का नया पौदा भी उसी समय उग आता है। राजा दशरथ की बात सुनते ही कैकेयी ने सोचा—राम राजा बन जायेगा तो राजमाता कौशल्या कही जाने लगेगी। फिर मेरे पुत्र भरत का और मेरा क्या हाल होगा ? कहीं हम महलों के एक कौने में तो नहीं डाल दिये जायँगे ? बस, इसी आशका से उसका मन मैला हो गया और वह उदास हो अपने स्थान पर लौट आई।

राजा दशरथ ने कैकेयी को एक युद्ध के अवसर पर रथ-सचालन मे उसकी सहायता से खुश होकर मुँह मांगे तीन वर देने का वचन दिया था। कैकेयी उस बात को अभी तक भूली न थी। और उन वचनों की याद दिलाते हुए वह महाराज से कहने लगी—'राजन्! अब अवसर आया है तो, मैं उन वचनों को आपसे माँगती हूँ। मेरी इच्छा है—'भरत को राज्य और राम को चौदह वर्षों को वनवास हो।

यह सुनते ही राजा मूर्छित हो गये। राज-महलों में शोक छा गया। राम को जब यह ज्ञात हुआ तो वे दौड़कर पिता दशरथ के पास आये और उनकी मूर्छा दूर कर बोले—'पिताजी! भरत राम से अलग नहीं है। वह मेरा ही भाई है। माता कैकेयी की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। अतः आप शोक मत कीजिये और मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिये।'

कौशल्या को यह जानकर बहुत दुख हुआ। मगर उसका हृदय निर्मल था। उसकी दृष्टि में राम और भरत दो नहीं थे। राजा दशरथ और कैकेयी को प्रणाम कर राम जब कौशल्या के पास आये और प्रणाम कर वन जाने की आज्ञा माँगने लगे तो कौशल्या ने उन्हें अपनी छाती से लगा लिया। बहुत रोकने पर भी उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह ही चली। राम ने कहा—'माता जी राम और भरत में जब तुम्हारे लिये कोई भी अन्तर नहीं है, तब आप शोक क्यों करती हैं।

कौशल्या ने कहा—'बेटा मुझे इसका दुख नहीं है कि तुम राज्य के अधिकारी न बन सके; मगर तुम वन में किस प्रकार रहोगे—यही विचार मेरे मन को कचोट रहा है। राम ने कहा—'माता जी! आप मेरी चिन्ता न करें। जैसे आपके लिये राम और भरत एक समान हैं।वैसे ही मेरे लिये भी वन

में राम विजयी हुये और मिथिला के राजा जनक ने अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह उनके साथ कर दिया।

राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे। मगर उनके राज्य के अधिकारी राम योग्य थे, इसलिये उन्हें कोई चिन्ता न थी। और एक दिन गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से राम के राज्याभिषेक का दिन निश्चित् कर वह वहुत प्रसन्न हुये।

स्त्रियों के मन को मैला होते देर नहीं लगती है। जहाँ स्वार्थ का अकुर फूटा नहीं कि सन्देह का नया पौदा भी उसी समय उग आता है। राजा दशरथ की वात सुनते ही कैकेयी ने सोचा—राम राजा वन जायेगा तो राजमाता कौशल्या कही जाने लगेगी। फिर मेरे पुत्र भरत का और मेरा क्या हाल होगा? कहीं हम महलों के एक कौने में तो नहीं डाल दिये जायँगे? वस, इसी आशका से उसका मन मैला हो गया और वह उदास हो अपने स्थान पर लौट आई।

राजा दशरथ ने कैकेयी को एक युद्ध के अवसर पर रथ-सचालन में उसकी सहायता से खुश होकर मुँह मांगे तीन वर देने का वचन दिया था। कैकेयी उस वात को अभी तक भूली न थी। और उन वचनों की याद दिलाते हुए वह महाराज से कहने लगी—'राजन्! अब अवसर आया है तो, मैं उन वचनों को आपसे माँगती हूँ। मेरी इच्छा है—'भरत को राज्य और राम को चौदह वर्षों को वनवास हो।'

यह सुनते ही राजा मूर्छित हो गये। राज-महलों में शोक छा गया। राम को जब यह बात हुआ तो वे दौड़कर पिता दशरथ के पास आये और उनकी मूर्छा दूर कर बोले—'पिताजी! भरत राम से अलग नहीं है। वह मेरा ही भाई है। माता कैकेयी की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। अत आप शोक मत कीजिये और मुझे वन जाने की आज्ञा दीजिये।

कौशल्या को यह जानकर बहुत दुख हुआ। मगर उसका हृदय निर्मल था। उसकी दृष्टि में राम और भरत दो नहीं थे। राजा दशरथ और कैकेयी को प्रणाम कर राम जब कौशल्या के पास आये और प्रणाम कर वन जाने की आज्ञा माँगने लगे तो कौशल्या ने उन्हें अपनी छाती से लगा लिया। बहुत रोकने पर भी उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह ही चली। राम ने कहा—'माता जी राम और भरत में जब तुम्हारे लिये कोई भी अन्तर नहीं है, तब आप शोक क्यों करती हैं।

कौशल्या ने कहा—बेटा मुझे इसका दुख नहीं है कि तुम राज्य के अधिकारी न बन सके मगर तुम वन में किस प्रकार रहोगे—यही विचार मेरे मन को कचोट रहा है। राम ने कहा—'माता जी! आप मेरी चिन्ता न करें। जैसे आपके लिये राम और भरत एक समान हैं।वैसे ही मेरे लिये भी वन

और महल में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये, शोक को त्याग दीजिये।'

कौशल्या का हृदय भर आया था। वह अधिक कुछ नहीं कह सकी। उसने राम के सिर पर अपना हाथ रख दिया। राम कौशल्या से विदा ले दूसरी माताओं के पास आये और उनसे मिलकर वन की ओर चल दिये। अयोध्या रो रही थी, मगर राम, सीता और लक्ष्मण के साथ धीर और गम्भीर बने हुये वन के मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे।

(२)

भरत अपने ननिहाल से अयोध्या आये तो उन्हें यह जानकर अपार दुख हुआ। वे आते ही राजमाता कौशल्या के पास गये और उसके चरणों में अपना शीश रख कहने लगे—'माता जी, राम कहाँ हैं। आपने उन्हें वन में क्यों जाने दिया? क्या आप भरत का आदर-भाव नहीं जानती थीं।'

'पुत्र! मैं राम के प्रति तुम्हारे अगाध प्रेम को भली-भाँति जानती हूँ, परन्तु होने वाली बात यही थी और यही हुआ भी। अब शोक करना व्यर्थ है। तुम धीरज धारण करो और जो उचित जान पड़े, वही करो।' इतना कहकर कौशल्या चुप हो गई।

दुख से कातर हुये भरत वन में जाकर राम से मिले मगर राम ने अवधि से पूर्व लौटना स्वीकार न किया—और वह निराश हो राम की पादुकाओं को अपने शीश पर धारण कर अयोध्या को वापिस लौटे।

(३)

लंकाधिपति रावण द्वारा राम-प्रिया सीता का हरण तथा राम-रावण युद्ध राम के वन जीवन की एक हृदय-विदारक कथा है। मगर रावण को युद्ध में मारकर राम विजयी हुये और उन्होंने सीता को पुन प्राप्त किया—यही इस कथा का सुन्दर स्थल है, जहाँ मन को सन्तोष होता है। जब वनवास की अवधि पूर्ण होने पर राम सीता और भाई लक्ष्मण के साथ अयोध्या में सकुशल वापिस आये—और राजा बने—तो अयोध्या हँस रही थी। राजमाता बनकर कौशल्या बहुत खुश थी।

मगर कौशल्या अपनी इस खुशी से अधिक दिनों तक प्रसन्न न रह सकी। उसे ये सुख-दुख सार हीन से प्रतीत होने लगे। इनमें उसे आत्मा का सुख प्राप्त न हो सका—और वह संसार से ऊब-सी गई। और एक दिन उसने इन सब बंधनों को तोड़कर दीक्षा अंगीकार करली। वर्षों तक वह कठिन संयम का पालन करती रही और अन्त में सद्गति को प्राप्त कर वह स्वर्ग को सिधारी।

और महल मे कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये, शोक को त्याग दीजिये।'

कौशल्या का हृदय भर आया था। वह अधिक कुछ नहीं कह सकी। उसने राम के सिर पर अपना हाथ रख दिया। राम कौशल्या से विदा ले दूसरी माताओं के पास आये और उनसे मिलकर वन की ओर चल दिये। अयोध्या रो रही थी, मगर राम, सीता और लक्षमण के साथ धीर और गम्भीर बने हुये वन के मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे।

(२)

भरत अपने ननिहाल से अयोध्या आये तो उन्हें यह जानकर अपार दुख हुआ। वे आते ही राजमाता कौशल्या के पास गये और उसके चरणों मे अपना शीश रख कहने लगे—'माता जी, राम कहाँ हैं। आपने उन्हें वन में क्यों जाने दिया? क्या आप भरत का आदर-भाव नहीं जानती थीं।'

'पुत्र! मैं राम के प्रति तुम्हारे अगाध प्रेम को भली-भाँति जानती हूँ, परन्तु होने वाली बात यही थी और यही हुआ भी। अब शोक करना व्यर्थ है। तुम धीरज धारण करो और जो उचित जान पडे, वही करो।' इतना कहकर कौशल्या चुप हो गई।

युद्ध से कातर हुये भरत वन में आकर राम से मिले मगर राम ने अवधि से पूर्व लौटना स्वीकार न किया—और वह निराश हो राम की पादुकाओं को अपने शीश पर धारण कर अयोध्या को वापिस लौटे।

(३)

लंकाधिपति रावण द्वारा राम-प्रिया सीता का हरण तथा राम-रावण युद्ध राम के वन-जीवन की एक हृदय-विदारक कथा है मगर रावण को युद्ध में मारकर राम विजयी हुये और उन्होंने सीता को पुनः प्राप्त किया—यही इस कथा का सुन्दर स्थल है, जहाँ मन को सन्तोष होता है। जब वनवास की अवधि पूर्ण होने पर राम सीता और भाई लक्ष्मण के साथ अयोध्या में सकुशल वापिस आये—और राजा बने~ तो अयोध्या हँस रही थी। राजमाता बनकर कौशल्या बहुत खुश थी।

मगर कौशल्या अपनी इस खुशी से अधिक दिनों तक प्रसन्न न रह सकी। उसे ये सुख-दुख सार हीन से प्रतीत होने लगे। इनमें उसे आत्मा का सुख प्राप्त न हो सका—और वह संसार से ऊब-सी गई। और एक दिन उसने इन सब बंधनों को तोड़कर दीक्षा अंगीकार करली। वर्षों तक वह कठिन संयम का पालन करती रही और अन्त में सद्गति को प्राप्त कर वह स्वर्ग को सिधारी।

———

और महल में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये, शोक को त्याग दीजिये।'

कौशल्या का हृदय भर आया था। वह अधिक कुछ नहीं कह सकी। उसने राम के सिर पर अपना हाथ रख दिया। राम कौशल्या से विदा ले दूसरी माताओं के पास आये और उनसे मिलकर वन की ओर चल दिये। अयोध्या रो रही थी, मगर राम, सीता और लक्ष्मण के साथ धीर और गम्भीर बने हुये वन के मार्ग पर आगे बढ रहे थे।

(२)

भरत अपने ननिहाल से अयोध्या आये तो उन्हें यह जानकर अपार दुख हुआ। वे आते ही राजमाता कौशल्या के पास गये और उसके चरणों मे अपना शीश रख कहने लगे—'माता जी, राम कहाँ हैं। आपने उन्हें वन में क्यों जाने दिया? क्या आप भरत का आदर-भाव नहीं जानती थीं।'

'पुत्र! मैं राम के प्रति तुम्हारे अगाध प्रेम को भली-भाँति जानती हूँ, परन्तु होने वाली वात यही थी और यही हुआ भी। अब शोक करना व्यर्थ है। तुम धीरज धारण करो और जो उचित जान पड़े, वही करो।' इतना कहकर कौशल्या चुप हो गई।

दुःख से कातर हुये भरत वन में जाकर राम से मिले मगर राम ने अवधि से पूर्व लौटना स्वीकार न किया—और वह निराश हो राम की पादुकाओं को अपने शीश पर धारण कर अयोध्या को वापिस लौटे।

(३)

लंकाधिपति रावण द्वारा राम-प्रिया सीता का हरण तथा राम-रावण युद्ध राम के वन-जीवन की एक हृदय-विदारक कथा है, मगर रावण को युद्ध में मारकर राम विजयी हुवे और उन्होंने सीता को पुनः प्राप्त किया—यही इस कथा का सुन्दर स्थल है, जहाँ मन को सन्तोष होता है। जब वनवास की अवधि पूर्ण होने पर राम सीता और भाई लक्ष्मण के साथ अयोध्या में सकुशल वापिस आये—और राजा बने-तो अयोध्या हँस रही थी। राजमाता बनकर कौशल्या बहुत खुश थी।

मगर कौशल्या अपनी इस खुशी से अधिक दिनों तक प्रसन्न न रह सकी। उसे ये सुख-दुःख सार हीन से प्रतीत होने लगे। इसमें उसे आत्मा का सुख प्राप्त न हो सका—और वह संसार से ऊब-सी गई। और एक दिन उसने इन सब बंधनों को तोड़कर दीक्षा अंगीकार करली। वर्षों तक वह कठिन संयम का पालन करती रही और अन्त में सद्‌गति को प्राप्त कर वह स्वर्ग को सिधारी।

सीता

मिथिला के राजा जनक की पुत्री सीता का स्वयंवर था। देश-देश के राजा आये हुए थे। राजा जनक ने उन सभी राजाओं को सम्बोधित कर कहा—

'हे राजाओ! यह मेरा प्रण है, जो भगवान् शिव के इस धनुष की जो आपके सम्मुख है, प्रत्यञ्चा को चढा देगा—उसी वीर के साथ मैं अपनी पुत्री सीता का विवाह कर दूंगा। अगर कोई भी वीर ऐसा न कर सका तो सीता अविवाहित ही रह जायेगी। हे राजाओ! अपना यह प्रण मैंने उस समय किया था, जब सीता बहुत छोटी थी और इसने खेल ही खेल में धनुष को उठा लिया था।' इतना कहकर महाराज जनक अपने सिंहासन पर बैठ गये। अपने कोमल हाथों में वरमाला लिये हुए सीता उनके पास में ही खड़ी थी। उसकी सुन्दरता अवर्णनीय थी। उसका चांद-सा मुख और फूल से अधर सब राजाओं को मोहित कर रहे थे। स्वयवर में उपस्थित एक-एक कर राजा-महाराजा उस धनुष के पास आने लगे और अपना

कर आजमाने लगे। परन्तु प्रत्यञ्चा का चढ़ाना तो दूर रहा वह धनुष किसी से हिलाया भी न जा सका। अतः सबको नीचा मुँह कर लौट जाना पड़ा। इस बार लंका का राजा रावण धनुष के पास आया। वह बड़ा बलशाली राजा था। उसकी लम्बी-लम्बी भुजायें और स्थूल शरीर को देख कर सब ने समझ लिया था कि वह धनुष की प्रत्यञ्चा को निश्चय ही चढ़ा देगा और सीता जैसी सुन्दरी को विजय करेगा। लेकिन हुआ कुछ और ही। रावण अपना बल लगा कर हार गया परन्तु वह धनुष को टस से मस भी न कर सका। उसकी साँस फूल गया और वह भूमि पर लुढ़क गया। यह देख कर सभा खिलखिला कर हँस पड़ी। इस तरह जितने भी राजा-महाराजा और राजकुमार उस धनुष के पास आये। सबको ही निराश होकर लौट जाना पड़ा। यह देखकर महाराज जनक बहुत ही चिन्तातुर हो उठे। इतने में दशरथ के पुत्र राम उठ कर धनुष के पास आये। जनक ने उनकी ओर आशा भरी दृष्टि से निहारा। राम ने सबके देखते ही देखते धनुष को उठा कर उस पर प्रत्यञ्चा को चढ़ा दिया। जनक चिन्ता-मुक्त हुये—सीता ने प्रसन्न हो राम के गले में वरमाला डालदी। जनक ने राम के साथ सीताजी का विवाह कर दिया। राम सीता को लेकर अयोध्या लौट आये और वहाँ रह कर सुख-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

राज्य करने के योग्य हो जाने पर दशरथ ने राम का राज्याभिषेक करना चाहा। परन्तु कैकेयी को यह बात अच्छी न लगी। उसने राम का राज्याभिषेक होने से पहले ही राजा दशरथ से अपने दिये हुए वचनों को पूर्ण करने के लिये कहा। और अन्त में उसने कहा—'मैं भरत को राज्य और राम को चौदह वर्ष का वनवास चाहती हूँ।' कैकेयी की यह बात सुनते ही राजा दशरथ सिहर उठे। मगर वह विवश थे। उन्होंने कैकेयी को बहुत समझाया, पर वह न मानी। जो होनहार होता है वह होकर ही रहता है। राम वन जाने के लिये तैयार हुए। साथ में लक्ष्मण और सीता भी। महारानी कौशल्या ने सीता को बहुत समझाया और चाहा सीता वनों में न जाय। लेकिन वह न मानी और बोली—'माता! वह वनों में मारे-मारे फिरें और मैं राजमहलों मे रहकर सुख भोगूँ—यह एक पतिव्रता स्त्री को किस प्रकार उचित हो सकता है। मेरा धर्म है कि मैं सुख-दुख में उनके साथ रहूँ। पतिव्रता स्त्री अपने पति के सुख में ही सुख समझती है। पति के साथ रहकर पत्नि को कभी भी कष्ट नहीं होता—आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं वनों में रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकूं।'

सीता के युक्ति-सगत ये वचन सुनकर कौशल्या मौन हो

गई। वह जानती थी—पतिव्रता सीता को वह राम की सेवा से विमुख न कर सकेगी।

अन्त में सबसे विदा लेकर राम, सीता और लक्ष्मण के साथ वनों की ओर चले। अयोध्या-निवासी राम का यह वन-गमन भरी आँखों से देख रहे थे। अधिकाँश इनमें से राम के साथ वन के मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे—और जब राम नगर से बहुत दूर निकल आये; मगर वे अयोध्या-निवासी नगर को वापिस न लौटे—तो राम ने अपने कौशल से उन्हें विदा किया। और राम, सीता और लक्ष्मण के साथ वन के मार्ग में आगे बढ़े।

(२)

नदी नाले पर्वत और जंगलों को पार करते हुए राम गोदावरी के तीर पर दण्डकारण्य में आ पहुँचे। यह स्थान बड़ा सुन्दर और रमणीक था। यहाँ एक कुटी बनाकर वह रहने लगे। राम के साथ वन का कठोर जीवन सीता बहुत सुख-पूर्वक व्यतीत कर रही थी।

दण्डकारण्य से अनार्यों का प्रदेश प्रारम्भ होता था। अतः यहाँ राक्षसों के उत्पात बराबर होते रहते थे। परन्तु राम और लक्ष्मण को उन राक्षसों का भय नहीं सताता था। उन्हीं दिनों, एक दिन रावण की बहिन शूर्पणखा का नाती (भानजा) राम के बाणों से मारा गया। इसका बदला लेने

के लिये शूर्पणखा रावण के पास आई और बोली—'भाई, दण्डकारण्य में दो आय रहने लगे हैं, वे बहुत ही वीर हैं। उन्होंने राक्षसों❀ का नाकों दम कर दिया है। कई राक्षसों को उन्होंने मार डाला है। अगर तुम अब भी उनको नष्ट नहीं करोगे तो धीरे-धीरे उनके द्वारा सभी राक्षस मार दिये जायँगे। और सुनो भाई, उनके पास सीता नाम की एक परम सुन्दरी स्त्री भी है। वैसी सुन्दर स्त्री तो मैंने आज तक कहीं नहीं देखी है।'

सीता का नाम सुनते ही रावण की आँखों के सामने चित्रपट की तरह स्वयवर का सारा दृश्य फिर गया। उसके मन मे सीता को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। वह सन्यासी का वेप धारण कर वहाँ जा पहुँचा। राम और लक्ष्मण बाहिर गये हुए थे। रावण सीता की कुटिया के सामने आकर भिक्षा माँगने लगा। भिक्षा देने के लिये सीता जब कुटिया से बाहिर आई तो रावण ने उसे पकड़ लिया और अपने विमान में बैठा कर लका की तरफ चल दिया।

(३)

लका पहुँचकर रावण ने सीता को अशोक-वाटिका में रखा। अशोकवाटिका लका का सबसे सुन्दर बगीचा था, जहाँ रावण की आज्ञा बिना कोई आ जा नहीं सकता था।

❀ राक्षस वहाँ के निवासियों की सज्ञा थी।

सीता को प्रसन्न करने के लिये रावण ने कुछ उठा न रक्खा; मगर सीता के मन में तो राम के अतिरिक्त और किसी के लिये भी स्थान न था। अस्थिर मन को चैन कहाँ? राज-वैभव और विलास-सामग्री भी मन के स्थिर होने पर ही सरस लगती है। लंका के अधिपति रावण में जहाँ कई दुर्गुण थे वहाँ एक सद्गुण भी था। वह किसी स्त्री पर बलात्कार कर उसके शील को भंग नहीं करता था। इसलिये उसने सीता को वश में करने के लिये कई उपाय किये। प्रारम्भ में उसने सीता को बहुत कष्ट दिये। परन्तु जब वह उन कष्टों से भी नहीं घबराई तो उसने उसे कई प्रलोभन दिये। स्वयं दास बन कर उसे महारानी बना देने का वचन दिया। परन्तु फिर भी सीता के मुँह से तो राम-राम ही सुनाई पड़ा। तब रावण से न रहा गया। उसने अपनी भौंहें चढ़ाकर कहा—'सीता अब यह मैं अन्तिम बार तुमसे कह रहा हूँ—तुम अपना भला चाहती हो तो मेरी बात मान लो नहीं तो तुम्हारे शरीर के मैं इस तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा। बोलो अब तुम क्या चाहती हो? तुम्हारी रक्षा करने वाला यहाँ कोई नहीं है।'

सीता अब तक तो शांत थी। पर अब उससे न रहा गया। उसने कहा—'रे दुष्ट! तू किसे अपनी तलवार का डर दिखा रहा है? जो तेरी इस सोने की लंका को खाक मार सकती है, वह क्या इस लोहे की तलवार से भयभीत हो

सकती है ? पतिव्रत धर्म मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा है। उसकी रक्षा के लिये अगर मुझे मौत के मुँह में भी जाना पडेगा तो इसका मुझे दुख न होगा, पर जीते जी मैं अपने धर्म पर आँच न आने दूंगी। पामर ! तू कहता है कि मेरा यहाँ कोई सहायक नहीं है। पर तू भूल कर रहा है। तेरी आँखें तुझे धोखा दे रही हैं—पर याद रख, मेरी रक्षा करने वाला मेरा धर्म है, जो कि मेरी रग-रग में समाया हुआ है। रावण, तेरी तो बात ही क्या, ससार की सारी शक्ति भी मिल कर मुझे अपने धर्म से न डिगा सकेगी। मैं अपने धर्म पर दृढ़ हूँ और अन्त तक रहूँगी। तू अपनी पाप-भावना छोड़ दे। इसीमें तेरा उद्धार है। नहीं तो, याद रख तेरी इस विशाल देह और तेरी इस सोने की लका को मिट्टी में मिलते देर न लगेगी।'

(४)

राम और लक्ष्मण जब वापिस लौटे तो कुटिया सूनी थी। सीता को न देख कर वे बहुत दुखित हुए और इधर-उधर उसकी खोज करने लगे। घूमते-घूमते सुग्रीव राजा से उनकी भेंट हो गई। सुग्रीव ने उनकी सहायता की और चारों तरफ अपने दूत सीता की खोज करने के लिये भेज दिये। हनुमान लका में पहुँचे और वहाँ सीता का पता लगा कर वापिस लौटे। सीता को रावण के पजे से छुड़ाने के लिये राम और

लक्ष्मण ने सुग्रीव की सहायता से लंका पर चढ़ाई की। रावण की रानी मन्दोदरी और उसके भाई विभीषण ने रावण को बहुत समझाया परन्तु वह न माना। वह भी अपनी सेना ले सामने आ डटा। रावण का भाई विभीषण राम से आकर मिल गया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। परन्तु अन्त में विजय सत्य की हुई। रावण राम और लक्ष्मण के बाणों से युद्ध में मारा गया और उसकी सारी सेना भी इस युद्ध में समाप्त हो गई। सीता राम को पुनः मिली। लंका का राज्य विभीषण को सौंप कर राम ने अयोध्या का मार्ग लिया। चौदह वर्ष बाद राम लक्ष्मण और सीता का आगमन सुनकर अयोध्या-निवासियों को बड़ी खुशी हुई। सबने उनका भव्य स्वागत किया। भरत ने अयोध्या का राज्य उन्हें सौंप दिया। राम अब धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

(५)

उन दिनों राजा अपनी प्रजा की भलाई का अहर्निश ध्यान रक्खा करते थे। प्रजा के सुख-दुख की बात जानने के लिये वे कभी-कभी वेष बदल कर उनके घरों में पहुँच जाया करते थे और इसी प्रकार वास्तविकता का पता चला लेते थे। जो राजा प्रजा की भलाई का जितना अधिक ध्यान रखता था वह उतना ही प्रजा का आदरणीय होता था। काश! आज के राजा लोग भी अपने इस प्राचीन आदर्श को न भुला बैठते तो

तो क्या वे आज अपने राज्य से अलग कर दिये गये होते। राम एक आदर्श राजा थे। वे एक रात अपनी प्रजा का हाल जानने के लिये वेप बदल कर नगर में निकले। घूमते-घूमते वह एक धोबी के घर जा पहुँचे। धोबी अपनी औरत से लड़ रहा था। धोबिन को आज़ अपने घर आने में देर हो गई थी। अत धोबी उसे बुरी तरह से डाँट-फटकार रहा था। धोबिन चुपचाप खड़ी हुई सब सुन रही थी। धोबी ने उसको धक्का मारते हुए कहा—'चल निकल जा मेरे घर से। यहाँ अब तेरे लिये स्थान नहीं है। मैं कोई राम-जैसा नहीं हूँ जिन्होंने रावण के यहाँ रही हुई सीता को भी अपने पास रख लिया। चल निकल जा मेरे घर से।'

धोबी की यह बात सुनकर राम सोच में पड़ गये। प्रजा-पालक राजा के रूप में मेरा क्या कर्तव्य है? इसका अब उन्हें विचार आने लगा। धोबी का मन भी प्रजा का ही मन था। प्रजा की नजरों मे राजा का एक भी दुर्गुण न होना चाहिये। तभी वह राजा राजा होता है, प्रजा का सच्चा पालक होता है। प्रजा के सुख के सामने राजा का सुख गौण है। ऐसे ही विचारों में डूबते-उतराते वे राजमहलों में लौट आये।

रात-भर राम को यही विचार आते रहे। अन्त में प्रात काल होते-होते उन्होंने सीता का त्याग कर देना निश्चय कर लिया। प्रात काल हुआ, लक्ष्मण राम की सेवा में उपस्थित

हुए। राम ने लक्ष्मण से यह सारी बात कह सुनाई। लक्ष्मण ने कहा—'सीता के चरित्र में सन्देह करना उचित नहीं है। वह सती है और अभी गर्भवती भी। ऐसी स्थिति में उनको छोड़ देना क्या उचित होगा।' राम ने कहा—'लक्ष्मण! तुम्हारा कथन ठीक है। परन्तु राजा के लिये प्रजा ही एक कसौटी होती है। जो इस कसौटी पर खरा उतरता है वही आदर्श राजा कहा जा सकता है। सीता भले ही सब तरह से पवित्र रही हो परन्तु फिर भी लोक-निंदा से बचने के लिये उसको त्याग कर देना ही उचित होगा। राम से ऐसा कोई काम न हो सकेगा जिससे कुल को कलंक लगता हो प्रजा जिसे उसका दोष समझती हो।' लक्ष्मण, तुम जाओ सीता को वनों में छोड़ आओ।

लक्ष्मण विवश थे। भाई की आज्ञा पालने के लिये उन्होंने रथ तैयार कराया और वन में घुमाने के बहाने सीता को लेकर वे उस ओर चल दिये। मार्ग में चलते-चलते लक्ष्मण ने सीता से सारी बात कह दी। जिसे सुनकर सीता को बहुत दुख हुआ। रथ चले जंगल में जाकर रुक गया। सीता रथ से नीचे उतर गई। अश्रुसिक्त नयनों से लक्ष्मण ने सीता से विदा ली और रथ वापिस लौट पड़ा। अन्यमनस्क हो सीता जाते हुए रथ को देखती रही। परन्तु जैसे ही रथ उसकी दृष्टि से ओझल हुआ; वह मूर्छित हो ज़मीन पर गिर पड़ी।

(६)

पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजघ उसी जगल में हाथियों को पकड़ने के लिये इधर-उधर घूम रहा था। जब उसने सीता को इस तरह मूर्च्छित अवस्था में पड़ी हुई देखा तो वह उसके पास आया और उसकी मूर्च्छा दूर कर बोला—'देवी-तुम कौन हो? तुम्हारे दुख का क्या कारण है?'

सीता अपने सामने पर-पुरुप को देख कर घबरा गई। दूध का जला छाछ को भी फू क फू क कर पीता है। सीता को भयभीत होते देख कर राजा के मन्त्री ने कहा—'देवी, आप भयभीत न हों, ये पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजघ हैं। ये बडे धर्मात्मा और व्रतधारी राजा हैं। पर स्त्री इनके लिये वहिन के समान है। अत घबराओ नहीं और विना किसी भय के तुम अपनी वात इनसे कह दो। ये अवश्य तुम्हारा दुख दूर कर देंगे।'

सीता को यह सुन कर कुछ धैर्य हुआ और उसने अपनी बात राजा से कह दी। सीता गर्भवती थी अत राजा उसे सान्त्वना देते हुए अपने साथ महलों में ले आये और उसके योग्य सारी व्यवस्था करवा दी। यथा-समय सीता के उदर से दो पुत्रों का जन्म हुआ। जिनका नाम लव और कुश रखा गया। दोनों पुत्र जब बड़े हुये तो सीता ने एक दिन उनसे अपनी सारी कहानी कह सुनाई, जिसे सुन कर उनको बहुत

युद्ध हुआ। सुअवसर देख कर एक दिन उन्होंने इसका बदला लेने के लिये अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। राम की सेना ने उनका मुकाबला किया। परन्तु राम की सेना लव और कुश के तीक्ष्ण बाणों की मार से तितर-बितर हो भागने लगी। यह देख कर लक्ष्मण स्वयं युद्ध करने के लिये उनके सम्मुख आये। लक्ष्मण ने कई तरह के बाण उन पर बाण छोड़े पर वे उनको बीच में ही काट देते थे। यह देख कर लक्ष्मण का क्रोध जाग उठा और उन्होंने अपना चक्र उन पर छोड़ा। चक्र लव और कुश के समीप जाकर उनकी प्रदक्षिणा करके वापिस लौट आया ❀। यह देखकर लक्ष्मण आश्चर्य में डूब गये। राम ने लक्ष्मण को इस तरह हताश होते हुए देखा तो अब वे स्वयं युद्ध-भूमि में जाकर खड़े हो गये। लव और कुश को जब यह पता चला कि यही राम हैं तो वे अपने धनुष बाण छोड़ कर उनसे मिलने के लिये दौड़ पड़े। यह देख कर राम बड़े आश्चर्य में पड़ गये। वे राम के पास और उनके चरणों में गिर कर बोले—हे पिता! पुत्र का अपने पिता पर बाण चलाना योग्य नहीं है। यह सुनते ही राम ने अपने दोनों वीर पुत्रों को उठा कर बड़े प्रेम से अपने गले लगाया। उस समय सभी खुश थे। राम की आज्ञा से लक्ष्मण सीता के पास पहुँचे और उनसे अयोध्या चलने की प्रार्थना करने लगे।

❀ कुटुम्बी जनों पर चक्र नहीं चला करता है।

सीता ने कहा—'लक्ष्मण, मुझे अयोध्या आने में कुछ भी सकोच नहीं है, परन्तु जिस कारण से मुझे तुम्हारे भाई ने छोड़ा है, वह तो अब भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। अत जब तक मैं अपने सतीत्व की परीक्षा न दे दूं तब तक मुझे अयोध्या में पैर रखने का अधिकार नहीं है।'

लक्ष्मण राम के पास आये और उनको सीता की यह बात कह सुनाई। सीता की अग्नि-परीक्षा के निमित्त चिता तैयार कराई गई। आग की लपटें लाल-लाल हो आकाश को छूने लगीं। सीता अग्नि के समीप जाकर बोली—'हे अग्नि देव! स्त्रियों के धर्म और अधर्म की तुम्हीं परीक्षा लेते हो। आज मैं भी अपनी परीक्षा देने तुम्हारे पास आकर खड़ी हुई हूँ। मेरे सत्यासत्य का निर्णय तुम्हारे हाथ में है। मैंने अपने पति राम के अतिरिक्त यदि कभी स्वप्न में भी पर-पुरुष का ध्यान किया हो तो तुम इस अपवित्र शरीर को जलाकर भस्म कर देना। तुम अपनी लपटें तेज करो। लो, मैं अभी तुम्हारे पास आती हूँ।' यह कह कर सीता ने राम को प्रणाम किया, फिर नमस्कार मत्र का जाप करती हुई वह चिता में जा बैठी। सभी का शरीर कांप उठा। परन्तु हुआ कुछ और ही। सीता का स्पर्श होते ही अग्नि शांत हो गई। शील-धर्म के प्रभाव से आग के स्थान पर अब जल हो चुका था—और सीता कमलासन पर बैठी हुई सबको दिखाई दे रही थी।

आकाश जय-जयकार से गूँज उठा। राम अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगे। यह देख कर सीता ने कहा—'नाथ, आपका पश्चाताप करना उचित नहीं है। एक आदर्श राजा का जो कर्त्तव्य होना चाहिये वही आपने भी किया है। इससे तो आपकी और मेरी-दोनों की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई है। मुझे अब संसार से विरक्ति हो गई है। मैं अब दीक्षा लेना चाहती हूँ। आप मुझे इसकी अनुमति दें और मेरे इस शुभ कार्य में सहायक बनें। राम सीता के इस आग्रह को टाल न सके। राम की आज्ञा पा सीता दीक्षित हुई और साधना करने के लिये वन में चली गई। राम अपने दोनों पुत्रों को साथ लेकर अयोध्या लौटे। उनके पीछे-पीछे सेना भी चली आ रही थी। सब के मुँह से राम और सीता की जय जयकार सुनाई पड़ रही थी। मोची ने जब यह सुना तो सबके साथ मिलकर उसने भी सीता की जय-जयकार की—

"सीता माता की जय"

द्रौपदी

'सुकुमालिका! साध्वियों को खुले में अकेले रह कर सूर्य की आतापना लेना धर्म के विरुद्ध है।' गुरुआनी ने कहा।

परन्तु आर्या सुकुमालिका गुरुआनी की आज्ञा उल्लघन कर अकेली गाँव के बाहर एक उद्यान में जाकर आतापना लेने लगी।

सयोगवश एक दिन पाँच पुरुषों के साथ एक वैश्या उसी उद्यान की ओर आ निकली—और उन पुरुषों से हास-परिहास करती हुई वह इधर-उधर टहलने लगी। उसे देखकर सुकुमालिका ने सोचा—यह स्त्री कैसी भाग्यशालिनी है? इसे पाँच पुरुष प्रेम करते हैं!! अगर मेरे तप-त्याग और संयम का भी कुछ फल मुझे मिले तो मैं भी इसी तरह पाँच पुरुषों की प्यारी बनूँ और सुखोप-भोग करूँ।

यही सुकुमारिका अपने अगले जन्म में राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई। जिसका विवाह योग्य वय होने पर पाँचों पाँडवों के साथ हो गया। वह अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से पाँचों पाँडवों की पत्नी कहलाई। बात कुछ अनहोनी जरूर लगेगी कि पाँच पुरुषों की पत्नी और फिर भी सती। लेकिन थी वह सचमुच सती ही। धर्म का मर्म उसने समझ लिया था। पाँच पाँडवों के अतिरिक्त संसार के अन्य सभी पुरुष उसकी दृष्टि में पिता और भाई के समान थे।

एक समय की बात है, द्रौपदी अपने महल में खड़ी हुई दर्पण में अपना मुख-देख रही थी। उसी समय वहाँ पर नारद जी आ पहुँचे। द्रौपदी मुख-स्वप्न में डूबी थी। उसे क्या पता था कि उसके यहाँ नारद जी पधारे हैं। कुछ-देर नारद जी वहाँ पर खड़े रहे, मगर द्रौपदी तो उस ओर से बिल्कुल बेखबर थी। उसके इस व्यवहार पर नारद जी कुपित हो वहाँ से उल्टे पैरों लौटे।

घूमते-घूमते वे राजा पद्मोत्तर के पास पहुँचे। पद्मोत्तर अमरकंका नगरी का राजा था उन दिनों अमरकंका धातकी खंड की एक प्रसिद्ध नगरी थी। पद्मोत्तर ने नारदजी का बड़ा आदर सत्कार किया और बोला—"महाराज! संसार का कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जो आपने न देखा हो। आपने

स्वभाव के वशीभूत हो आप सर्वदा सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। क्या, कृपा कर आप उस वस्तु की ओर सकेत करेंगे, जो, मेरे यहाँ न हो-और किसी दूसरे स्थान पर जो आपको दीख-पड़ी हो।'

नारदजी ने कहा—'मैंने द्रौपदी जैसी सुन्दर स्त्री कहीं नहीं देखी है। उसकी सुन्दरता अवर्णनीय है। वह हस्तिनापुर के महाराजा पॉडवों की महारानी है। उस जैसी सुन्दर स्त्री तुम्हारे अन्त पुर मे एक भी नहीं है।'

और नारद मुनि की यह बात राजा के हृदय के पार उतर गई।

पद्मोत्तर ने द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये एक देव की आराधना की। देव उसकी आराधना से खुश हुआ। वह सोती हुई द्रौपदी को उठा कर पद्मोत्तर के महलों में ले आया। राजा पद्मोत्तर उसे देख कर बहुत खुश हुआ। उसने कहा—'देवी। मैं तुम्हारा दास बनना चाहता हूँ। यह राज-पाट तुम्हारा है, तुम सभालो। अब तो तुम्हारे हृदय में स्थान प्राप्त कर मैं स्वयं को धन्य मानूँगा। मुझे विश्वास है मेरी यह प्रार्थना तुम स्वीकार करोगी।'

द्रौपदी सती थी। सती स्त्रियाँ कठिनाइयों मे भी कभी घबराती नहीं हैं। न वे कभी लोभ मे आकर अपना शील ही खण्डित होने देती है। और द्रौपदी ने कहा—'राजन्! तुम

अपना धर्म भूल रहे हो। पर-स्त्री के सम्मुख इस प्रकार बातें करना अधर्म है। उसे अपनी बनाने की चेष्टा करना पाप है। तुम इस पाप-पंक में मत फँसो और धर्म को पहिचानो। जो स्त्री अपने पति के स्थान पर किसी अन्य पुरुष का ध्यान स्वप्न में भी अपने मन में लाती है, उसका जीवन धिक्कार के योग्य बन जाता है। मेरा धर्म शील का पालन करना है और तुम्हारा धर्म मेरे शील की रक्षा करना है। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकती। मैं चाहती हूँ कि तुम भी अपना धर्म न छोड़ो। मुझे अपने प्राणों का मोह लेश-मात्र भी नहीं सता रहा है। मैं अपने शील की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों को भी त्याग सकती हूँ, परन्तु नारी धर्म का उल्लंघन स्वप्न में भी नहीं कर सकती।'

पद्मोत्तर यह सुनकर निराश हो गया। मगर द्रौपदी को अपने वश में करने के लिये वह बराबर प्रयत्न करता रहा। इधर पाँडवों को जब यह पता चला तो वे श्रीकृष्ण की सहायता से अमरकंका जा पहुँचे। दोनों में युद्ध हुआ। परन्तु शीघ्र ही पद्मोत्तर भयभीत हो शरण्य में आगया और उसने अपने अपराध की क्षमा माँगी। पाण्डव श्रीकृष्ण सहित द्रौपदी को लेकर पुनः अपनी राजधानी में लौट आये।

(२)

एक बार की बात है, पाँडवों की राजधानी में कोई महो

स्वभाव के वशीभूत हो आप सर्वदा सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। क्या, कृपा कर आप उस वस्तु की ओर सकेत करेंगे, जो, मेरे यहाँ न हो-और किसी दूसरे स्थान पर जो आपको दीख-पड़ी हो।'

नारदजी ने कहा—'मैंने द्रौपदी जैसी सुन्दर स्त्री कहीं नहीं देखी है। उसकी सुन्दरता अवर्णनीय है। वह हस्तिनापुर के महाराजा पाँडवों की महारानी है। उस जैसी सुन्दर स्त्री तुम्हारे अन्त पुर मे एक भी नहीं है।'

और नारद मुनि की यह वात राजा के हृदय के पार उतर गई।

पद्मोत्तर ने द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये एक देव की आराधना की। देव उसकी आराधना से खुश हुआ। वह सोती हुई द्रौपदी को उठा कर पद्मोत्तर के महलों में ले आया। राजा पद्मोत्तर उसे देख कर वहुत खुश हुआ। उसने कहा—'देवी। मैं तुम्हारा दास वनना चाहता हूँ। यह राज-पाट तुम्हारा है, तुम सभालो। अव तो तुम्हारे हृदय में स्थान प्राप्त कर मैं स्वयँ को धन्य मानूँगा। मुझे विश्वास है मेरी यह प्रार्थना तुम स्वीकार करोगी।'

द्रौपदी सती थी। सती स्त्रियाँ कठिनाइयों मे भी कभी घवराती नहीं हैं। न वे कभी लोभ में आकर अपना शील ही खँडित होने देती है। और द्रौपदी ने कहा—'राजन्। तुम

अपना धर्म भूल रहे हो। पर-स्त्री के सम्मुख इस प्रकार बातें करना अधर्म है। उसे अपनी बनाने की चेष्टा करना पाप है। तुम इस पाप-पंक में मत फँसो और धर्म को पहिचानो। जो स्त्री अपने पति के स्थान पर किसी अन्य पुरुष का ध्यान स्वप्न में भी अपने मन में लाती है, उसका जीवन धिक्कार के योग्य बन जाता है। मेरा धर्म शील का पालन करना है और तुम्हारा धर्म मेरे शील की रक्षा करना है। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकती। मैं चाहती हूँ कि तुम भी अपना धर्म न छोड़ो। मुझे अपने प्राणों का मोह लेश-मात्र भी नहीं सता रहा है। मैं अपने शील की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों को भी त्याग सकती हूँ परन्तु नारी धर्म का उल्लंघन स्वप्न में भी नहीं कर सकती।'

पद्मोत्तर यह सुनकर निराश हो गया। मगर द्रौपदी को अपने वश में करने के लिये वह बराबर प्रयत्न करता रहा। इधर पाँडवों को जब यह पता चला तो वे श्रीकृष्ण की सहायता से अमरकंका जा पहुँचे। दोनों में युद्ध हुआ। परन्तु शीघ्र ही पद्मोत्तर भयभीत हो शरण में आगया और उसने अपने अपराध की क्षमा माँगी। पाण्डव श्रीकृष्ण सहित द्रौपदी को लेकर पुनः अपनी राजधानी में लौट आये।

(२)

एक बार की बात है, पाँडवों की राजधानी में कोई महा-

त्सव मनाया जा रहा था। देश-देश के लोग जिसे देखने के लिये आये हुये थे। समूची नगरी भर-पूर सजाई गई थी। राज महलों की सजावट तो वड़े ही विचित्र ढङ्ग से की गई थी। दुर्योधन आदि कौरव भी उसे देखने के लिये आये थे। द्रौपदी और भीम अपने महल मे वैठे हुए थे कि उसी समय उन्हें वहाँ दुर्योधन आता हुआ दिखाई दिया। महल की सजावट और तेज रोशनी मे उसकी आँखें चौंधिया गई थीं। सूखी-भूमि पर उसे पानी का भ्रम सता रहा था और पानी के स्थान पर वह भूमि समझ रहा था। एक ऐसे ही स्थान पर, जहाँ सूखी जमीन थी, उसने वहाँ पर पानी समझकर अपने कपडे समेट लिये—मगर दूसरे स्थान पर जहाँ पानी भरा हुआ था, वह उसे भूमि समझकर उस पानी पर चलने लगा—तो, उसके कपडे भींग गये। यह देख सभी खिलखिलाकर हँस पडे। द्रौपदी और भीम भी अपनी हँसी न रोक सके और हँस दिये। उस समय दुर्योधन शर्म के मारे जमीन में गढा जा रहा था। द्रौपदी ने मजाक करते हुए कहा—'अधे के वेटे भी तो अधे ही होते हैं न? मगर दुर्योधन के दिल मे यह वात तीर के समान चुभ गई। वह मौन रहा, मगर उसने निश्चय किया—वह इस वात का वदला पाँडवों से निश्चय ही लेगा।

दुर्योधन का मामा शकुनि जुआ खेलने में बहुत चतुर था।

उसने दुर्योधन से कहा—'तुम किसी तरह युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिये राजी कर लो। फिर देखो अपने मामा के दाँव-पेंच! देखते ही देखते मैं उन्हें भिखारी न बना दूं तो फिर मुझे भी तुम शकुनि न कहना। मेरा फेंका हुआ पासा कभी उल्टा नहीं गिरता है।' उसने दुर्योधन की पीठ पर हाथ मारते हुए पुनः कहा—'देखते क्या हो? तैयार हो जाओ जुआ खेलने के लिये और युधिष्ठिर को भी विदुरजी भेज कर राजी कर लो। जो जीते उसी का राज्य बस लगाओ यही शर्त। फिर देखो शकुनि क्या कमाल करता है।'

दुर्योधन को शकुनि की यह बात बहुत पसन्द आई। उसने पिता धृतराष्ट्र से जुआ खेलने की अनुमति प्राप्त की और विदुरजी को भेजकर युधिष्ठिर को बुला भेजा। खेल आरम्भ हुआ। शकुनि की चतुराई से युधिष्ठिर अपना राज्य हार बैठे। चारों भाई सहित स्वयं को भी हार गये और अन्त में द्रौपदी को भी। दुर्योधन उनके राज्य और उनका स्वामी बना और पांडव उसके दास।

दरबार लगा हुआ था। भीष्म द्रोणाचार्य विदुर आदि सभी अपने अपने स्थान पर बैठे हुए थे। इसी समय दुःशासन द्रौपदी की चोटी पकड़ उसे घसीटता हुआ दरबार में ले आया। उस समय द्रौपदी अपने अपमान के क्षोभ में जली-सी जा रही थी मगर सभा के मध्य में पहुँचकर वह कुछ सँभली

त्सव मनाया जा रहा था। देश-देश के लोग जिसे देखने के लिये आये हुये थे। समूची नगरी भर-पूर सजाई गई थी। राज महलों की सजावट तो बड़े ही विचित्र ढङ्ग से की गई थी। दुर्योधन आदि कौरव भी उसे देखने के लिये आये थे। द्रौपदी और भीम अपने महल में बैठे हुए थे कि उसी समय उन्हें वहाँ दुर्योधन आता हुआ दिखाई दिया। महल की सजावट और तेज रोशनी में उसकी आँखें चौंधिया गई थीं। सूखी-भूमि पर उसे पानी का भ्रम सता रहा था और पानी के स्थान पर वह भूमि समझ रहा था। एक ऐसे ही स्थान पर, जहाँ सूखी जमीन थी, उसने वहाँ पर पानी समझकर अपने कपडे समेट लिये—मगर दूसरे स्थान पर जहाँ पानी भरा हुआ था, वह उसे भूमि समझकर उस पानी पर चलने लगा—तो, उसके कपडे भींग गये। यह देख सभी खिलखिलाकर हँस पडे। द्रौपदी और भीम भी अपनी हँसी न रोक सके और हँस दिये। उस समय दुर्योधन शर्म के मारे जमीन में गढ़ा जा रहा था। द्रौपदी ने मजाक करते हुए कहा—'अंधे के बेटे भी तो अंधे ही होते हैं न? मगर दुर्योधन के दिल में यह बात तीर के समान चुभ गई। वह मौन रहा, मगर उसने निश्चय किया—वह इस बात का बदला पाँडवों से निश्चय ही लेगा।

दुर्योधन का मामा शकुनि जुआ खेलने मे बहुत चतुर था।

उसने दुर्योधन से कहा—'तुम किसी तरह युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिये राजी कर लो। फिर देखो अपने मामा के रंग-ढंग! देखते ही देखते मैं उन्हें भिखारी न बना दूं तो फिर मुझे भी तुम शकुनि न कहना। मेरा फैंका हुआ पांसा कभी उलटा नहीं गिरता है।' उसने दुर्योधन की पीठ पर हाथ मारते हुए पुनः कहा—'देखते क्या हो? तैयार हो जाओ जुआ खेलने के लिये और युधिष्ठिर को भी विदुरजी भेज कर राजी कर लो। जो जीते उसी का राज्य बस लगाओ यही शर्त। फिर देखो शकुनि क्या कमाल करता है।'

दुर्योधन को शकुनि की यह बात बहुत पसन्द आई। उसने पिता धृतराष्ट्र से जुआ खेलने की अनुमति प्राप्त की और विदुरजी को भेजकर युधिष्ठिर को बुला भेजा। खेल आरम्भ हुआ। शकुनि की चतुराई से युधिष्ठिर अपना राज्य हार बैठे। चारों भाई सहित स्वयं को भी हार गये और अन्त में द्रौपदी को भी। दुर्योधन उनके राज्य और उनका स्वामी बना और पांडव उसके दास।

दरबार लगा हुआ था। भीष्म, द्रोणाचार्य विदुर आदि सभी अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। इसी समय दुःशासन द्रौपदी की चोटी पकड़ उसे घसीटता हुआ दरबार में ले आया। उस समय द्रौपदी अपने अपमान के क्षोभ में जली-सी जा रही थी। मगर सभा के मध्य में पहुँचकर वह कुछ सँभली

और गरज कर कहने लगी—'अरे, आप सब यहाँ बैठे हुये है और मेरी यह दशा की जा रही है। फिर भी आप सब चुप क्यों है ? क्या आपकी बोलने की शक्ति समाप्त हो गई है अथवा आँखें बन्द हो गई है ?'

बीच मे ही दुश्शासन ने द्रौपदी को टाटते हुए कहा—'बस, चुप रह। युधिष्ठिर अपने साथ तुम्हे भी जुए में हार गये है। अब तू रानी नहीं, हमारी दासी बन गई है।'

यह सुनते ही द्रौपदी ने कहा—'मैं इस सभा से पूछना चाहती हूँ कि महाराजा युधिष्ठिर ने पहिले मुझे दाव पर लगाया था या स्वयं को—सभा मुझे मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे—तभी यह निश्चय किया जा सकता है कि मैं दासी हूँ या अभी भी रानी।'

इसका उत्तर कौन दे। यह सभा न्याय देने के लिये नहीं न्याय का गला घोंटने के लिये भरी गई थी। सभी चुप थे। यह देखकर दुश्शासन ने कहा—'हम अब कुछ भी कहना-सुनना नहीं चाहते हैं। पांडव अब हमारे दास है और द्रौपदी हमारी दासी। दास और दासी को अब उसी तरह के कपड़े पहिनने चाहिये—न कि रानी और राजाओं के से।'

और यह सुनते ही पांडवों ने अपनी राजसी पोशाक उतार दी, परन्तु द्रौपदी चुपचाप जैसी की तैसी ही खडी रही।

'क्या तूने मेरी आज्ञा को नहीं सुना ? दुरशासन ने द्रौपदी से कहा। तभी दुर्योधन बोला—'देखते क्या हो ? इसके वस्त्र उतार लो।'

सत्य की शक्ति संसार की सभी शक्तियों से बड़ी होती है। आत्मा की निर्मल भावनाओं के सामने दुनियाँ की कलुषित भावनाएँ हार खा जाती हैं। सत्य देव कहीं दूर नहीं रहता है। जो उसे समझ लेते हैं वे बिल्कुल उसके पास होते हैं। सर्वस्वार्पण में जो आनन्द है वह और किसी में नहीं होता है। जब सती स्त्रियों के लिये और कोई बाह्य उपाय शील रक्षा के लिये शेष नहीं रह जाता है तब वे अपने आपको सत्य के ही भरोसे छोड़ देती हैं और सत्य के निर्मल प्रकाश में फिर वे चमचमकर चमकने लगती हैं। द्रौपदी ने जब अन्य कोई उपाय अपनी रक्षा का न देखा तो उसने प्रभु को अपनी सहायता के लिये पुकारा। वह उसके ध्यान में खो-सी गई। दुरशासन आगे बढ़ा और द्रौपदी की साड़ी का एक किनारा पकड़ कर खींचने लगा। मगर धर्म की रक्षा भगवान् करते हैं—और उन्होंने अब भी की। दूसरे ही क्षण दुरशासन को ऐसा जान पड़ा—जैसे उसके हाथ बँध गये हों। उसके हाथों की शक्ति बिल्कुल समाप्त हो गई हो—और वह घबड़ा कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। द्रौपदी का शील अखण्ड रहा। सत्य ने उसकी रक्षा की। द्रौपदी ने अपनी आँखें खोलीं तो दुर्योधन

और गरज कर कहने लगी—'अरे, आप सब यहाँ बैठे हुये हैं और मेरी यह दशा की जा रही है। फिर भी आप सब चुप क्यों हैं ? क्या आपकी बोलने की शक्ति समाप्त हो गई है अथवा आँखें बन्द हो गई हैं ?'

बीच में ही दुश्शासन ने द्रौपदी को डाटते हुए कहा—'बस, चुप रह। युधिष्ठिर अपने साथ तुम्हें भी जुए में हार गये हैं। अब तू रानी नहीं, हमारी दासी बन गई है।'

यह सुनते ही द्रौपदी ने कहा—'मैं इस सभा से पूछना चाहती हूँ कि महाराजा युधिष्ठिर ने पहिले मुझे दाव पर लगाया था या स्वयं को—सभा मुझे मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे—तभी यह निश्चय किया जा सकता है कि मैं दासी हूँ या अभी भी रानी।'

इसका उत्तर कौन दे। यह सभा न्याय देने के लिये नहीं न्याय का गला घोंटने के लिये भरी गई थी। सभी चुप थे। यह देखकर दुश्शासन ने कहा—'हम अब कुछ भी कहना-सुनना नहीं चाहते हैं। पांडव अब हमारे दास हैं और द्रौपदी हमारी दासी। दास और दासी को अब उसी तरह के कपड़े पहिनने चाहिये—न कि रानी और राजाओं के से।'

और यह सुनते ही पांडवों ने अपनी राजसी पोशाक उतार दी, परन्तु द्रौपदी चुपचाप जैसी की तैसी ही खड़ी रही।

दुर्योधन को यह बात पसन्द न आई। उसने युधिष्ठिर से फिर मौका देख कर जुआ खेलने के लिये कहा। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर फिर इसके लिये तैयार हो गये। इस बार यह शर्त रखी गई कि जो हार वह बारह वर्ष का वनवास ले और फिर एक वर्ष गुप्तवास में रहे। जिसका किसी को पता न चले। पता चल जाय तो फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करे।

खेल प्रारम्भ हुआ और युधिष्ठिर इस बार भी हार गये। शर्त के अनुसार अब वे द्रौपदी को लेकर अपने चारों भाइयों के साथ वन की ओर चल दिये।

(३)

एक दिन की बात है, द्रौपदी और युधिष्ठिर के सिवाय झौंपड़ी में और कोई नहीं था। चारों भाई जंगल में गये हुए थे। युधिष्ठिर ने गहरा निश्वास छोड़ते हुए कहा—'द्रौपदी! जब मैं तुम्हारे लिये सोचता हूँ—तो मेरा कलेजा भर आता है-सोचता हूँ कल जो महारानी थी उसकी आज यह दशा!'

मगर द्रौपदी कहने लगी—'महाराज! आप मेरा विचार न कर अपने भाइयों का विचार करें। भीम अर्जुन नकुल और सहदेव जैसे योद्धा, जिनके नाम से ही शत्रु थर-थर काँपने लगते हैं, वे आज दर-दर भटकते फिर रहे हैं। धूप-छांह,

ने उसे अपनी जाँघ दिखाते हुए कहा—'द्रौपदी, आओ यहाँ बैठो।'

यह सुनकर अब भीम से न रहा गया। वह अपनी गदा ले उठ खड़ा हुआ और आँखें लाल-लाल करता हुआ बोला—'दुर्योधन, मैं अब तक तो शान्त था, पर अब मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। हम अभी परतंत्र हैं, तेरे दास हैं अत कुछ करना नहीं चाहते, पर याद रख, मैं आज यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में इस पापी दुश्शासन को मार कर इसके खून से पांचाली (द्रौपदी) के केशों को तर न करूँ, और तेरी इस खुली जाँघ को अपनी इस गदा से चूर-चूर न करूँ, तो मेरा भी नाम भीम नहीं।'

भीम की इस प्रतिज्ञा से सारी सभा में सन्नाटा फैल गया। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। तभी, वहाँ धृतराष्ट्र आ पहुँचे। धृतराष्ट्र दुर्योधन आदि सौ कौरवों के पिता थे। वे जन्म से ही अन्धे थे। उन्हें जब यह सारा हाल मालूम हुआ तो उन्होंने द्रौपदी को सान्त्वना दी और कहा—'बेटी, मुझे बहुत दु ख है। मैं तुझे प्रसन्न करने के लिये तुझे कुछ देना चाहता हूँ, तू मुझसे माँग—तू क्या चाहती है ?'

द्रौपदी ने कहा—'महाराज, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं इन पाँचों पांडवों की मुक्ति चाहती हूँ।' और महाराज धृतराष्ट्र ने उसी समय पांडवों को अपने पुत्रों की दासता से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन को यह बात पसन्द न आई। उसने युधिष्ठिर से फिर मौका देख कर जुआ खेलने के लिये कहा। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर फिर इसके लिये तैयार हो गये। इस बार यह शर्त रखी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष का वनवास ले और फिर एक वर्ष गुप्तवास में रहे। जिसका किसी को पता न चले। पता चल जाय तो फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करे।

खेल प्रारम्भ हुआ और युधिष्ठिर इस बार भी हार गये। शर्त के अनुसार अब वे द्रौपदी को लेकर अपने चारों भाइयों के साथ वन की ओर चल दिये।

(२)

एक दिन की बात है, द्रौपदी और युधिष्ठिर के सिवाय झोंपड़ी में और कोई नहीं था। चारों भाई जंगल में गये हुए थे। युधिष्ठिर ने गहरा निश्वास छोड़ते हुए कहा—'द्रौपदी! जब मैं तुम्हारे लिये सोचता हूँ—तो मेरा कलेजा भर आता है—सोचता हूँ कल की महारानी की उसकी आज यह दशा!'

मगर द्रौपदी कहने लगी—'महाराज! आप मेरा विचार न कर अपने भाइयों का विचार करें। भीम अर्जुन नकुल और सहदेव जैसे योद्धा जिनके नाम से ही शत्रु थर-थर काँपने लगते हैं, वे आज दर-दर भटकते फिर रहे हैं। धूप-छांह,

ने उसे अपनी जाँघ दिखाते हुए कहा—'द्रौपदी, आओ यहाँ बैठो।'

यह सुनकर अब भीम से न रहा गया। वह अपनी गदा ले उठ खडा हुआ और आँखें लाल-लाल करता हुआ बोला—'दुर्योधन, मैं अब तक तो शान्त था, पर अब मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। हम अभी परतंत्र हैं, तेरे दास हैं अत कुछ करना नहीं चाहते, पर याद रख, मैं आज यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में इस पापी दुश्शासन को मार कर इसके खून से पांचाली (द्रौपदी) के केशों को तर न करूँ, और तेरी इस खुली जाँघ को अपनी इस गदा से चूर-चूर न करूँ, तो मेरा भी नाम भीम नहीं।'

भीम की इस प्रतिज्ञा से सारी सभा में सन्नाटा फैल गया। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। तभी, वहाँ धृतराष्ट्र आ पहुँचे। धृतराष्ट्र दुर्योधन आदि सौ कौरवों के पिता थे। वे जन्म से ही अन्धे थे। उन्हें जब यह सारा हाल मालूम हुआ तो उन्होंने द्रौपदी को सान्त्वना दी और कहा—'बेटी, मुझे बहुत दुःख है। मैं तुझे प्रसन्न करने के लिये तुझे कुछ देना चाहता हूँ, तू मुझसे माँग—तू क्या चाहती है?'

द्रौपदी ने कहा—'महाराज, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं इन पाँचों पांडवों की मुक्ति चाहती हूँ।' और महाराज धृतराष्ट्र ने उसी समय पांडवों को अपने पुत्रों की दासता से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन को यह बात पसन्द न आई। उसने युधिष्ठिर से फिर मौका देख कर जुआ खेलने के लिये कहा। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर फिर इसके लिये तैयार हो गये। इस बार यह शर्त रखी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष का वनवास ले और फिर एक वर्ष गुप्तवास में रहें। जिसका किसी को पता न चले। पता चल जाय तो फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करे।'

खेल आरम्भ हुआ और युधिष्ठिर इस बार भी हार गये। शर्त के अनुसार अब वे द्रौपदी को लेकर अपने चारों भाइयों के साथ वन की ओर चल दिये।

(३)

एक दिन की बात है, द्रौपदी और युधिष्ठिर के सिवाय झोंपड़ी में और कोई नहीं था। चारों भाई जंगल में गये हुए थे। युधिष्ठिर ने गहरा निश्वास छोड़ते हुए कहा—'द्रौपदी! जब मैं तुम्हारे लिये सोचता हूँ—तो मेरा कलेजा भर आता है-सोचता हूँ, कल जो महारानी थी उसकी आज यह दशा!'

मगर द्रौपदी कहने लगी—'महाराज! आप मेरा विचार न कर अपने भाइयों का विचार करें। भीम अर्जुन नकुल और सहदेव जैसे योद्धा जिनके नाम से ही शत्रु थर-थर काँपने लगते हैं, वे आज दर-दर भटकते फिर रहे हैं। धूप-छांह,

ने उसे अपनी जाँघ दिखाते हुए कहा—'द्रौपदी, आओ यहाँ बैठो।'

यह सुनकर अब भीम से न रहा गया। वह अपनी गदा ले उठ खड़ा हुआ और आँखें लाल-लाल करता हुआ बोला—'दुर्योधन, मैं अब तक तो शान्त था, पर अब मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। हम अभी परतन्त्र हैं, तेरे दास हैं अत कुछ करना नहीं चाहते, पर याद रख, मैं आज यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में इस पापी दुश्शासन को मार कर इसके खून से पांचाली (द्रौपदी) के केशों को तर न करूँ, और तेरी इस खुली जाँघ को अपनी इस गदा से चूर-चूर न करूँ, तो मेरा भी नाम भीम नहीं।'

भीम की इस प्रतिज्ञा से सारी सभा मे सन्नाटा फैल गया। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। तभी, वहाँ धृतराष्ट्र आ पहुँचे। धृतराष्ट्र दुर्योधन आदि सौ कौरवों के पिता थे। वे जन्म से ही अन्धे थे। उन्हें जब यह सारा हाल मालूम हुआ तो उन्होंने द्रौपदी को सान्त्वना दी और कहा—'बेटी, मुझे बहुत दु ख है। मैं तुझे प्रसन्न करने के लिये तुझे कुछ देना चाहता हूँ, तू मुझसे माँग—तू क्या चाहती है ?'

द्रौपदी ने कहा—'महाराज, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं इन पाँचों पांडवों की मुक्ति चाहती हूँ।' और महाराज धृतराष्ट्र ने उसी समय पांडवों को अपने पुत्रों की दासता से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन को यह बात पसन्द न आई। उसने युधिष्ठिर से फिर मौका देख कर जुआ खेलने के लिये कहा। हारा जुआ जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर फिर इसके लिये तैयार हो गये। इस बार यह शर्त रखी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष का बनवास ले और फिर एक वर्ष गुप्तवास में रहे। जिसका किसी को पता न चले। पता चल जाय तो फिर बारह वर्ष बन में व्यतीत करे।'

खेल आरम्भ हुआ और युधिष्ठिर इस बार भी हार गए। शर्त के अनुसार अब वे द्रौपदी को लेकर अपने चारों भाइयों के साथ बन की ओर चल दिये।

(३)

एक दिन की बात है, द्रौपदी और युधिष्ठिर के सिवाय झोंपड़ी में और कोई नहीं था। चारों भाई जंगल में गये हुए थे। युधिष्ठिर ने गहरा निश्वास छोड़ते हुए कहा—'द्रौपदी! जब मैं तुम्हारे लिये सोचता हूँ—तो मेरा कलेजा फट जाता है-सोचता हूँ कल जो महारानी थी उसकी आज यह दशा!

मगर द्रौपदी कहने लगी—'महाराज! आप मेरा विचार न कर अपने भाइयों का विचार करें। भीम अर्जुन नकुल और सहदेव जैसे योद्धा जिनके नाम से ही शत्रु थर-थर कांपने लगते हैं, वे आज दर-दर भटकते फिर रहे हैं। धूप-छांह,

ने उसे अपनी जाँघ दिखाते हुए कहा—'द्रौपदी, आओ यहाँ बैठो।'

यह सुनकर अब भीम से न रहा गया। वह अपनी गदा को उठा खड़ा हुआ और आँखें लाल-लाल करता हुआ बोला—'दुर्योधन, मैं अब तक तो शान्त था; पर अब मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। हम अभी परतंत्र हैं, तेरे दास हैं अतः कुछ करना नहीं चाहते, पर याद रख, मैं आज यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में इस पापी दुश्शासन को मार कर इसके रक्त से पाञ्चाली (द्रौपदी) के केशों को तर न करूँ, और तेरी इस दुष्ट जाँघ को अपनी इस गदा से चूर चूर न करूँ, तो मेरा भी नाम भीम नहीं।'

भीम की इस प्रतिज्ञा से सारी सभा में सनाटा फैल गया। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। तभी, वहाँ धृतराष्ट्र आ पहुँचे। धृतराष्ट्र दुर्योधन आदि सौ कौरवों के पिता थे। वे जन्म से ही अन्धे थे। जब उन्हें यह सारा हाल मालूम हुआ तो उन्होंने द्रौपदी को सान्त्वना दी और कहा—'बेटी, मुझे बहुत दुःख है। मैं तुझे प्रसन्न करने के लिये तुझे कुछ देना चाहता हूँ, तू मुझसे माँग—तू क्या चाहती है?'

द्रौपदी ने कहा—'महाराज, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं इन पाँचों पाण्डवों की मुक्ति चाहती हूँ।' और महाराज धृतराष्ट्र ने उसी समय पाण्डवों को अपने पुत्रों की दासता से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन को यह बात पसन्द न आई। उसने युधिष्ठिर से फिर मौका देख कर जुआ खेलने के लिये कहा। हारा जुआ जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर फिर इसके लिये तैयार हो गये। इस बार यह शर्त रखी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष का वनवास ले और फिर एक वर्ष गुप्तवास में रहे। जिसका किसी को पता न चले। पता चल जाय तो फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करे।

खेल प्रारम्भ हुआ और युधिष्ठिर इस बार भी हार गये। शर्त के अनुसार अब वे द्रौपदी को लेकर अपने चारों भाइयों के साथ वन की ओर चल दिये।

(३)

एक दिन की बात है, द्रौपदी और युधिष्ठिर के सिवाय झोंपड़ी में और कोई नहीं था। चारों भाई जंगल में गये हुए थे। युधिष्ठिर ने गहरा निश्वास छोड़ते हुए कहा—'द्रौपदी। जब मैं तुम्हारे लिए सोचता हूँ—तो मेरा कलेजा भर आता है—सोचता हूँ कल जो महारानी थी उसकी आज यह दशा ?

मगर द्रौपदी कहने लगी—'महाराज। आप मेरा विचार न कर अपने भाइयों का विचार करें। भीम अर्जुन, नकुल और सहदेव जैसे योद्धा, जिनके नाम से ही शत्रु थर-थर कांपने लगते हैं, वे आज दर-दर भटकते फिर रहे हैं। धूप-छांह,

शीत-ऊष्ण, क्या इनका भी आपको विचार आता है ?' युधिष्ठिर—'विचार तो आता है द्रौपदी, परन्तु ।'

'नहीं नहीं, इसका विचार आपको आ ही कैसे सकता है ? आपके पास तो क्षमा और शान्ति के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ? भला, क्षमा और शान्ति की बातें करने वाले भी क्या कभी राज्य पा सकेंगे ?' द्रौपदी ने अपना मुँह फेरते हुए युधिष्ठिर से कहा।

'द्रौपदी, क्षमा और शांति ही पुरुष की कसौटी है। जो इन परीक्षाओं में पार जाते हैं वे दुनियाँ पर राज्य करने के सच्चे अधिकारी बनते हैं।'

'आपकी ये बातें क्षत्रियों को शोभा नहीं देती हैं, महाराज ! क्या आपको याद नहीं है कि भरी सभा में मेरा अपमान किया गया था ? जिन्होंने एक सती स्त्री के हृदय पर ऐसे निर्मम प्रहार कर उसकी इज्जत भरी सभा में लूट लेने में कोई कसर न उठा रखी हो, क्या अब उन दुष्टों पर भी दया दिखाना चाहते हैं ! वीर क्षत्रियों के लिये यह दया, दया नहीं कायरता है। शत्रु हमारा अहित करता रहे और हम क्षमा धारण कर मौन रहें क्या यही क्षत्रियों का धर्म है ? आप अगर उनसे मेरे अपमान का बदला न ले सकें तो आप भले ही सन्यासी बन कर क्षमा और शांति की अराधना करें, पर हमें इसके लिए आज्ञा प्रदान करदें। फिर जैसा भी होगा

हम उनसे सब तरह से निबट लेंगे।' यह कहते-कहते द्रौपदी का मारीस्व जाग उठा। उसकी आँखें लाल लाल हो गईं। मानों उनसे आग निकलने लगी हो।

'द्रौपदी, मुझे सब कुछ याद है, मैं भूला नहीं हूँ, लेकिन अभी हमें एक वर्ष और गुप्त वेश में रहकर व्यतीत करना है। फिर जैसा भी होगा देख लिया जायगा। लेकिन मेरी आस्था क्षमा और शांति में दृढ़ है। सच्चा सुख, सच्चा साम्राज्य अगर किसी से मिल सकता है तो इसीसे मिल सकता है। जिसे एक दिन तुम भी स्वीकार करोगी। अभी तुम उफन कर बहती हुई नदी के समान हो जो किसी का केवल अनिष्ट ही कर सकती है, जानती हो, तब उस नदी का जीवन कैसा बेचैन होता है। चैन और शान्ति तो उसे अपनी मर्यादा में रह कर बहने में ही मिलती है। मनुष्य का जीवन भी कुछ ऐसा ही होता है। मैं कह रहा हूँ अभी तुम धीरज और आशा से काम लो। धीरज और आशा ये दो ही मानव जीवन के चरम सम्बल हैं जिनके सहारे से ही हम अपने ये दिन भी व्यतीत कर सकेंगे।

'महाराज धीरज और आशा क्षमा और शान्ति की भी कोई सीमा होती है। धीरज और आशा ने अब तक जो किया वही बहुत है। अब तो इससे छुटकारा पाने का एक ही मार्ग है और वह है युद्ध! केवल युद्ध!' और यह कह कर द्रौपदी मौन हो गई।

शीत-ऊष्ण, क्या इनका भी आपको विचार आता है ?' युधिष्ठिर—'विचार तो आता है द्रौपदी, परन्तु ।'

'नहीं नहीं, इसका विचार आपको आ ही कैसे सकता है ? आपके पास तो क्षमा और शान्ति के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ? भला, क्षमा और शान्ति की बातें करने वाले भी क्या कभी राज्य पा सकेंगे ?' द्रौपदी ने अपना मुँह फेरते हुए युधिष्ठिर से कहा।

'द्रौपदी, क्षमा और शांति ही पुरुप की कसौटी है। जो इन परीक्षाओं में पार जाते हैं वे दुनियाँ पर राज्य करने के सच्चे अधिकारी बनते हैं।'

'आपकी ये बातें क्षत्रियों को शोभा नहीं देती हैं, महाराज ! क्या आपको याद नहीं है कि भरी सभा में मेरा अपमान किया गया था ? जिन्होंने एक सती स्त्री के हृदय पर ऐसे निर्मम प्रहार कर उसकी इज्जत भरी सभा में लूट लेने में कोई कसर न उठा रखी हो, क्या अब उन दुष्टों पर भी दया दिखाना चाहते हैं ! वीर क्षत्रियों के लिये यह दया, दया नहीं कायरता है। शत्रु हमारा अहित करता रहे और हम क्षमा धारण कर मौन रहें क्या यही क्षत्रियों का धर्म है ? आप अगर उनसे मेरे अपमान का बदला न ले सकें तो आप भले ही सन्यासी बन कर क्षमा और शांति की अराधना करें, पर हमें इसके लिए आज्ञा प्रदान करदें। फिर जैसा भी होगा

हम उनसे सब तरह से निबट लेंगे।' यह कहते-कहते द्रौपदी का नारीत्व जाग उठा। उसकी आँखें लाल लाल हो गईं। मानों उनसे आग निकलने लगी हो!

'द्रौपदी, मुझे सब कुछ याद है, मैं भूला नहीं हूँ, लेकिन अभी हमें एक वर्ष और गुप्त वेश में रहकर व्यतीत करना है। फिर जैसा भी होगा देख लिया जायगा। लेकिन मेरी आत्मा क्षमा और शांति में रह है। सच्चा सुख, सच्चा साम्राज्य अगर किसी से मिल सकता है तो इसीसे मिल सकता है। जिसे एक दिन तुम भी स्वीकार करोगी। अभी तुम उफन कर बहती हुई नदी के समान हो जो किसी का केवल अनिष्ट ही कर सकती है, जानती हो तब उस नदी का जीवन कैसा बेचैन होता है! चैन और शान्ति तो उसे अपनी मर्यादा में रह कर बहने में ही मिलती है। मनुष्य का जीवन भी कुछ ऐसा ही होता है। मैं कह रहा हूँ अभी तुम धीरज और आशा से काम लो। धीरज और आशा ये दो ही मानव जीवन के परम सम्बल हैं जिनके सहारे से ही हम अपने ये दिन भी व्यतीत कर सकेंगे।

'महाराज धीरज और आशा क्षमा और शान्ति की भी कोई सीमा होती है। धीरज और आशा से अब तक काम लिया वही बहुत है। अब तो इससे छुटकारा पाने का एक ही मार्ग है और वह है युद्ध! केवल युद्ध!' और यह कह कर द्रौपदी मौन हो गई।

(४)

पांडव अपने वनवास के १२ वर्ष पूर्ण कर एक वर्ष का अज्ञातवास करने के लिये विराट नगर में पहुँच कर वहाँ के राजा के यहाँ नौकरी करने लगे। युधिष्ठिर ने अपना नाम 'कक' रखा और वह राजा के पुरोहित बन गये। भीम ने 'वल्लभ' नाम रखा और वह राजा का रसोइया बन गया। अर्जुन 'बृहन्नला' के नाम से राजा के अन्तःपुर में नृत्य सिखाने के लिये नियुक्त हो गया। नकुल और सहदेव क्रमशः अश्वपालक और गोपालक के रूप में राजा के यहाँ नौकर हो गये। द्रौपदी ने अपना नाम सौरन्ध्री रखा और वह रानी की दासी बन कर वहाँ रहने लगी।

एक दिन की बात है, द्रौपदी भीम के पास आकर बोली— 'रानी का भाई कीचक, कई दिनों से मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मैंने उसे कई बार मना किया, पर वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता है। रानी भी उसका साथ दे रही है और बार बार उसे मेरे पास भेजती रहती है।'

'द्रौपदी, घबराओ नहीं और एक काम करो। तुम इसे कल रात को आठ बजे नृत्यशाला में अपने से मिलने की बात कहदो। वह इससे बड़ा खुश हो जायगा और तुम्हें तंग करना छोड़ देगा। कल रात को तुम्हारे बजाय मैं नृत्यशाला

में जाकर सो जाऊँगा और उसके आते ही उसका काम तमाम कर दूंगा। और यह कहकर भीम हँसने लगा।

द्रौपदी ने कहा—'लेकिन कहीं भूल न जाना ? नहीं तो फिर मेरी दुर्दशा हुए बिना नहीं रहेगी।'

'भीम कभी ऐसी बातें भूल सकता है द्रौपदी ? तुम निश्चिन्त रहना। भीम ने हँसते-हँसते द्रौपदी से कहा।

दूसरे दिन द्रौपदी के कहने से कीचक ठीक ८ बजे नृत्य शाला में जा पहुँचा। भीम उससे पहले ही पलँग पर जाकर लेट गया था। कीचक ने उसे ही सैरन्ध्री समझा और मारे खुशी के उसके पास आकर बैठ गया। मौका देखकर भीम उठ खड़ा हुआ और उसे अपनी दोनों भुजाओं में भरकर इस तरह दबोचा कि कीचक की हड्डी हड्डी ढीली हो गई, और वह यमपुर सिधारा। द्रौपदी को अब कोई भय न था। वह पूर्व की भाँति फिर अपना कार्य करने लगी।

धीरे-धीरे यह एक वर्ष का अज्ञातवास भी पूरा हुआ। पाँडव अपने असली रूप में प्रकट हो गये। अब उन्हें अपनी शर्त के अनुसार अपना राज्य मिल जाना चाहिए था। किन्तु दुर्योधन की नीयत खराब थी। उसने राज्य देने से साफ इन्कार कर दिया। युधिष्ठिर की तरफ से श्रीकृष्ण दूत बन कर दुर्योधन के पास गये और केवल पाँच गाँव ही दे देने की बात कही। परन्तु दुर्योधन ने बिना युद्ध के सुई की नोंक के

(४)

पांडव अपने वनवास के १२ वर्ष पूर्ण कर एक वर्ष का अज्ञातवास करने के लिये विराट नगर मे पहुँच कर वहाँ के राजा के यहाँ नौकरी करने लगे। युधिष्ठिर ने अपना नाम 'कक' रखा और वह राजा के पुरोहित बन गये। भीम ने 'वल्लभ' नाम रखा और वह राजा का रसोइया बन गया। अर्जुन 'बृहन्नला' के नाम से राजा के अन्त पुर मे नृत्य सिखाने के लिये नियुक्त हो गया। नकुल और सहदेव क्रमश अश्वपालक और गोपालक के रूप मे राजा के यहाँ नौकर हो गये। द्रौपदी ने अपना नाम सौरन्ध्री रखा और वह रानी की दासी बन कर वहाँ रहने लगी।

एक दिन की बात है, द्रौपदी भीम के पास आकर बोली—'रानी का भाई कीचक, कई दिनों से मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मैंने उसे कई बार मना किया, पर वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता है। रानी भी उसका साथ दे रही है और बार बार उसे मेरे पास भेजती रहती है।'

'द्रौपदी, घबराओ नहीं और एक काम करो। तुम इसे कल रात को आठ बजे नृत्यशाला में अपने से मिलने की बात कहदो। वह इससे बड़ा खुश हो जायगा और तुम्हें तग करना छोड़ देगा। कल रात को तुम्हारे बजाय मैं नृत्यशाला

में जाकर सो जाऊँगा और उसके आते ही उसका काम तमाम कर दूँगा। और यह कहकर भीम हँसने लगा।

द्रौपदी ने कहा—'लेकिन कहीं भूल न जाना ? नहीं तो फिर मेरी दुर्दशा हुए बिना नहीं रहेगी।'

'भीम कभी ऐसी बातें भूल सकता है द्रौपदी ? तुम निश्चिन्त रहना। भीम ने हँसते-हँसते द्रौपदी से कहा।

दूसरे दिन द्रौपदी के कहने से कीचक ठीक ८ बजे नृत्य शाला में जा पहुँचा। भीम उससे पहले ही पलँग पर जाकर लेट गया था। कीचक ने उसे ही सौरन्ध्री समझ और मारे खुशी के उसके पास आकर बैठ गया। मौका देखकर भीम उठ खड़ा हुआ और उसे अपनी दोनों भुजाओं में भरकर इस तरह दबोचा कि कीचक की हड्डी हड्डी ढीली हो गई, और वह यमपुर सिधारा। द्रौपदी को अब कोई भय न था। वह पूर्व की भाँति फिर अपना कार्य करने लगी।

धीरे-धीरे यह एक वर्ष का अज्ञातवास भी पूरा हुआ। पांडव अपने असली रूप में प्रकट हो गये। अब उन्हें अपनी शर्त के अनुसार अपना राज्य मिल जाना चाहिए था। किन्तु दुर्योधन की नीयत खराब थी। उसने राज्य देने से साफ इन्कार कर दिया। युधिष्ठिर की तरफ से श्रीकृष्ण दूत बन कर दुर्योधन के पास गये और केवल पाँच गाँव ही दे देने की बात कही। परन्तु दुर्योधन ने बिना युद्ध के सुई की नोंक के

(४)

पांडव अपने वनवास के १२ वर्ष पूर्ण कर एक वर्ष का अज्ञातवास करने के लिये विराट नगर में पहुँच कर वहाँ के राजा के यहाँ नौकरी करने लगे। युधिष्ठिर ने अपना नाम 'कक' रखा और वह राजा के पुरोहित वन गये। भीम ने 'वल्लभ' नाम रखा और वह राजा का रसोइया वन गया। अर्जुन 'वृहन्नला' के नाम से राजा के अन्त पुर मे नृत्य सिखाने के लिये नियुक्त हो गया। नकुल और सहदेव क्रमश अश्वपालक और गोपालक के रूप में राजा के यहाँ नौकर हो गये। द्रौपदी ने अपना नाम सौरन्ध्री रखा और वह रानी की दासी वन कर वहाँ रहने लगी।

एक दिन की वात है, द्रौपदी भीम के पास आकर वोली— 'रानी का भाई कीचक, कई दिनों से मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मैंने उसे कई वार मना किया, पर वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता है। रानी भी उसका साथ दे रही है और वार वार उसे मेरे पास भेजती रहती है।'

'द्रौपदी, घवराओ नहीं और एक काम करो। तुम इसे कल रात को आठ वजे नृत्यशाला में अपने से मिलने की वात कहदो। वह इससे वड़ा खुश हो जायगा और तुम्हें तग करना छोड़ देगा। कल रात को तुम्हारे वजाय मैं नृत्यशाला

में जाकर सो जाऊँगा और उसके आते ही उसका काम तमाम कर दूंगा।' और यह कहकर भीम हँसने लगा।

द्रौपदी ने कहा—'लेकिन कहीं भूल न जाना ! नहीं तो फिर मेरी दुर्दशा हुए बिना नहीं रहेगी।'

'भीम कभी ऐसी बातें भूल सकता है द्रौपदी ? तुम निश्चिन्त रहना। भीम ने हँसते हँसते द्रौपदी से कहा।

दूसरे दिन द्रौपदी के कहने से कीचक ठीक ८ बजे नृत्य शाला में जा पहुँचा। भीम उससे पहले ही पलँग पर जाकर लेट गया था। कीचक ने उसे ही सैरन्ध्री समझा और मारे खुशी के उसके पास आकर बैठ गया। मौका देखकर भीम उठ खड़ा हुआ और उसे अपनी दोनों भुजाओं में भरकर इस तरह दबोचा कि कीचक की हड्डी हड्डी ढीली हो गई, और वह यमपुर सिधारा। द्रौपदी को अब कोई भय न था। वह पूर्व की भाँति फिर अपना कार्य करने लगी।

धीरे-धीरे यह एक वर्ष का अज्ञातवास भी पूरा हुआ। पांडव अपने असली रूप में प्रकट हो गये। अब उन्हें अपनी शर्तों के अनुसार अपना राज्य मिल जाना चाहिए था। किन्तु दुर्योधन की नीयत खराब थी। उसने राज्य देने से साफ इन्कार कर दिया। युधिष्ठिर की तरफ से श्रीकृष्ण दूत बन कर दुर्योधन के पास गये और केवल पाँच गाँव ही दे देने की बात कही। परन्तु दुर्योधन ने बिना युद्ध के सुई की नोंक के

बरावर भी जमीन देना स्वीकार न किया। अन्त मे जो होना था वही हुआ। कुरुक्षेत्र के मैदान मे दोनों का भीषण युद्ध हुआ। दोनों तरफ की अठारह अक्षौहिणी सेना अठारह दिनों मे काम आई। इस भीषण नर-सहार के बीच भीम ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। कौरवों का सर्वनाश हुआ और अन्त मे पाण्डव विजयी हुये। लाखों विधवाओं, वृद्धों और बालकों के करुण क्रन्दन से आक्रान्त इन्द्रप्रस्थपुरी में पांडवों ने प्रवेश किया, जिसे देखकर द्रौपदी का दिल दहल उठा। उसे युधिष्ठिर के क्षमा और शान्ति के वही बोल याद आ गये जो किसी दिन जगल की कुटिया मे उन्होंने कहे थे। नदी के पूर में अशान्ति होती है। मनुष्य के दिल मे भी जब तक विकारों का प्रवाह सवल रहता है तब तक वह भी बेचैन और अशांत रहता है। द्रौपदी का दिल यह सब सहन नहीं कर सका। पांडवों की आज्ञा से अन्त में उसने शाश्वत शान्ति को पाने के लिए उसी प्रशस्त मार्ग का अनुसरण किया और श्वेत वस्त्र धारण कर दीक्षा अगीकार करली। इन्द्रप्रस्थपुरी की रक्त रँजित सड़कों पर से जब द्रौपदी साध्वी बनकर निकली तो लोगों के मुँह से रह-रह कर ये शब्द सुनाई पड़ रहे थे—

'सती द्रौपदी की जय।'

———